ओम्

५.३

और वेद में इतिहास

श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट के नये प्रकाशन

ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका

बृहत् प्रामाणिक संस्करण

ऋषि दयानन्द कृत ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का सुन्दर शुद्ध सटिप्पण प्रामाणिक संस्करण तैयार हो गया है यह १८×२२ के चार पेजी बृहत् आकार में स्थूलाक्षरों में २४ पौण्ड के सुदृढ़ चिकने कागज पर नयनाभिराम छपाई और सुन्दर सुदृढ़ जिल्द से युक्त है। मूल्य १२-००

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-परिशिष्ट

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका और वेदभाष्य पर किये गये आक्षेपों का ऋषि दयानन्द द्वारा दिये गये उत्तरों का अपूर्व संग्रह। मूल्य १-५०

वेद और निरुक्त—श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु कृत ०-५०

निरुक्तकार और वेद में इतिहास " " ०-५०

अष्टाध्यायी-भाष्य " "

प्रथम भाग १२-००, द्वितीय भाग १०-०० तृतीय भाग १०-००

ट्रस्ट की सब पुस्तकें निम्न स्थानों से प्राप्त होती हैं—

रामलाल कपूर एण्ड संस पेपरमर्चेण्ट

गुरुबाजार, अमृतसर। नई सड़क, देहली।

बारी मार्केट, सदर बाजार, देहली।

बिरहानारोड, कानपुर। ५१ सुतार चॉल, बम्बई—३।

वेदवाणी कार्यालय, अजमतगढ़ पैलेस, वाराणसी—१

भा॰ पु॰

वैदिक निबन्धमाला–२

निरुक्तकार और वेद में इतिहास



लेखक

पदवाक्यप्रमाणज्ञ श्री पं॰ ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु

प्रकाशक

मन्त्री–रामलाल कपूर ट्रस्ट

गुरु बाजार, अमृतसर

परिवर्धित मूल्य
०० - ७५

द्वितीयवार १०००] सं॰ २०२५ [मूल्य ~~०-५०~~

रामलाल कपूर ट्रस्ट ग्रन्थमाला–१७

ट्रस्ट के उद्देश्य

प्राचीन वैदिक साहित्य का अन्वेषण, रक्षण तथा प्रचार
तथा भारतीय संस्कृति, भारतीय शिक्षा
भारतीय विज्ञान और चिकित्सा द्वारा
जनता की सेवा

मुद्रक
श्री पं० बालकृष्णजी शास्त्री
ज्योतिष प्रकाश प्रेस,
विश्वेश्वरगंज, वाराणसी



सम्पादकीय वक्तव्य

"निरुक्तकार और वेद में इतिहास" यह निबन्ध आर्य-विद्वत्सम्मेलन के लिये सन् १९३२ में काशी में लिखा गया था। श्रीमान् डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप जी एम० ए० प्रिन्सिपल गवर्नमेण्ट ओरियण्टल कालेज लाहौर के प्रेमपूर्वक आग्रह से पंजाब यूनिवर्सिटी की ओर से उस की त्रैमासिक पत्रिका में सम्भवतः सन् १९३३ में प्रकाशित हुआ था। उक्त पत्रिका में से 'रामलाल कपूर ट्रस्ट सोसाइटी लाहौर' के द्वारा केवल एक सौ १०० प्रतियां पुनः प्रकाशित (Reprint) कराई गईं थीं, जो विना मूल्य भारत तथा योरुप के अनेक विद्वानों को भेंट में दे दी गई थीं। बहुत दिनों से इस की मांग अत्यधिक हो रही थी। बहुत से विद्वानों को निराश भी होना पड़ा। अतः ट्रस्ट ने इस को परिवर्तित तथा परिवर्द्धितरूप में पुनः प्रकाशित करना तथा वेदार्थ-प्रक्रिया विषय के अनेक नवीन निबन्धों का प्रकाशन आरम्भ किया है॥

इस निबन्ध में 'वेद प्रभु की पवित्र वाणी है', सृष्टि के आदि का दिया हुआ ईश्वरीय ज्ञान है। इस में किसी व्यक्तिविशेष का इतिहास नहीं, समस्त ऋषि मुनियों की इस धारणा को, जो भारतीय संस्कृति-सभ्यता और उन का प्राणाधार है, सप्रमाण सिद्ध किया गया है। विदेशी राज्य वा उस के कारण विदेशी विद्वान् कहे जाने वालों ने गत लगभग डेढ़ शताब्दी से उपर्युक्त धारणा को मिथ्या सिद्ध करने का भरसक यत्न किया है। इतना ही नहीं, भारत की समस्त यूनिवर्सिटियों द्वारा भारत के प्रत्येक पुत्र पुत्री के हृदय में अपने वेद शास्त्रों के प्रति घृणा का भाव उत्पन्न करने में अपनी ओर से कोई कमी उठा नहीं रखी। प्रभु की महती कृपा से महापुरुष दयानन्द ने वेदार्थ का शुद्ध स्वरूप संसार के समक्ष सप्रमाण रखा, जिससे विदेशियों द्वारा

फैलाये उक्त भ्रम का बहुत कुछ निवारण हो रहा है, पर कठिनाई तो यह है कि यूनिवर्सिटियों द्वारा स्कूलों-कालेजों तथा परीक्षा देने वाले विद्यालयों में भारतीय संस्कृति सभ्यता के विपरीत विचार विदेशियों द्वारा अभी तक निरन्तर होते जा रहे हैं, आचार्य दयानन्द के ये विचार अबोध पुत्र पुत्रियों तक पहुंच भी नहीं पाते ॥

अतः हमने सप्रमाण सिद्ध करने का यत्न किया है कि आचार्य दयानन्द सरस्वती की यह कोई अपनी कल्पना नहीं थी, अपितु आज से लगभग १५०० वर्ष पूर्व तक भी "वेद में इतिहास नहीं है" यही सिद्धान्त विद्यमान था। सायणाचार्य, जिन को आधार बना कर विदेशी विद्वानों ने यह खेल खेला, उन से लगभग ९०० वर्ष पूर्व तक भी वेद में इतिहास सर्वथा नहीं माना जाता था। प्रायः बहुत से बड़े-बड़े विद्वान् समझे जाने वालों को भी यास्क के "तत्रेतिहासमाचक्षते" निरुक्त में आये इन अनेक स्थलों को देख कर "वेद में इतिहास है" वा "निरुक्तकार वेद में इतिहास मानता है" यही भ्रम होने लगता है। हम ने यास्क के शब्दों द्वारा ही इस वाद का खण्डन किया है। साथ ही लगभग १५०० वर्ष पूर्व के निरुक्त के टीकाकारों आचार्य स्कन्द स्वामी तथा दुर्गाचार्य ने हमारे विचार की ही पुष्टि की है। कुमारिल भट्ट आदि का भी यही सिद्धान्त है। वैद्यक शास्त्र के आधार पर भी हम ने यही सिद्ध किया है। ये सब वेद में अनित्य व्यक्तियों का इतिहास लेशमात्र भी नहीं मानते। ऐसी अवस्था में सायण वा उनके अनुवर्त्ती विदेशी स्कालरों वा उनके शिष्यों के कथन का कोई मूल्य नहीं रह जाता ॥

अनार्ष पाठविधि से, अनार्ष ग्रन्थों द्वारा अनार्ष गुरुकुलों व विद्यालयों में पढ़े, विशेषतया विदेशी विद्वानों को अपना गुरु मानने वा कहने में गौरव समझने वाले कुछ एक विद्वान् कहे जाने वालों ने पिछले कुछ वर्षों से आर्यसमाज में "वेद में इतिहास" के प्रचार कर

का बीड़ा उठा रखा है, और कुछ एक अङ्गरेजी पढ़े लिखों की बुद्धियों में भ्रान्ति उत्पन्न करते देखे जाते हैं। ऐसे व्यक्तियों के मिथ्या प्रचार के नाश में हमारा यह लेख अवश्य सहायक हो सकता है ॥

हम चाहते हैं विज्ञपाठक वा निरुक्त का अध्ययन करने वाले महानुभाव एक बार पक्षपात रहित होकर हमारे इन विचारों को पढ़ने और मनन करने का यत्न करें। यूनिवर्सिटियों में वेद वा निरुक्त का विषय पढ़नेवाले प्रत्येक छात्र के लिये हमारा यह निबन्ध तथा पूर्व प्रकाशित 'वेद और निरुक्त' विशेष ध्यान से पढ़ने चाहिये। दानी महानुभाव यूनिवर्सिटियों वा विद्यालयों में इन निबन्धों को बाँट सकते हैं, जिससे वेद में इतिहास सम्बन्धी मिथ्या धारणा का नाश हो सके ॥

रावीतट— वैदिकधर्म तथा विद्वानों का सेवक
२६ आश्विन सं० २००२ 'ब्रह्मदत्त जिज्ञासु'
१० अक्टूबर १९४५

द्वितीय संस्करण

यह निबन्ध (ट्रैक्ट) तथा इस निबन्ध माला के अन्य निबन्ध आज से २२ वर्ष पूर्व लाहौर में छपे थे। वे देश विभाजन के समय (अगस्त १९४७) वहाँ नष्ट हो गये। गत वर्षों में अनेक बार प्रयत्न करने पर भी हम इन्हें पुनः प्रकाशित नहीं कर सके। अब यह कार्य शनैः-शनैः सम्पन्न हो जाएगा, ऐसी आशा है।

युधिष्ठिर मीमांसक

विषय-सूची

निरुक्तकार और वेद में इतिहास[1]

सज्जन वृन्द ! वेदों में इन्द्र, मरुत्, अङ्गिरस परुच्छेप-वसिष्ठ-विष्णु-ब्रह्मा पराशरादि शब्द अनेक बार आए हैं। इनका वर्णन ब्राह्मणग्रन्थों में भी विविध रूप से किया गया है। वेद तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों के आधार पर ही यास्क तथा उससे पूर्व नैरुक्तों ने इन शब्दों के सम्बन्ध में लेखन किया है। निरुक्त का वेद के साथ साध्य-साधनरूप सम्बन्ध है, यह पूर्व लेख में दिखाया जा चुका है। वेदाङ्ग होने से भी निरुक्त का महत्त्व मानना ही पड़ेगा। यहीं तक नहीं अपितु यह ग्रन्थ वेदार्थ का प्रतिपादक है। वेदार्थ की प्रक्रिया बताना ही इसका मुख्य ध्येय है। इसी से जो बात निरुक्त के आधार पर कही जायगी, उसकी कोई अवहेलना नहीं कर सकता।

पूर्वपक्ष

इतिहास के सम्बन्ध में जो वाद फैला हुआ है, मेरे विचार में उसमें मुख्य कारण निरुक्त में इतिहास का प्रतिपादन है। अर्थात् जब वेदार्थ-प्रक्रिया का प्रतिपादक ग्रन्थ निरुक्त ही स्वयं वेद में स्पष्ट इतिहास बतावे, तब इसको कौन वैदिकधर्मी वेदानुयायी हेय बतला सकता है। जब स्पष्ट रूप से निरुक्त में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का इतिहास उनकी

---

१. यह निबन्ध सन् १९३२ में आर्यविद्वत्सम्मेलन के लिए लिखा गया था। इसका प्रकाशन पहले हो चुका था परन्तु देशविभाजन काल में नष्ट हो जाने से दुर्लभ हो गया था। स्वाध्यायशील पाठकों की ओर से इसकी मांग भी बराबर आ रही थी अतः हम इसे प्रकाशित कर रहे हैं।

कुलपरम्पराओं तथा तात्कालिक घटनाओं सहित सर्वथा स्पष्ट पाया जाता है, तब यह कैसे कहा जावे कि यास्कमुनि वेद में इतिहास नहीं मानते।

मेरे विचार में निरुक्त में यत्र तत्र आये "तत्रेतिहासमाचक्षते" इस वर्णन को देखकर प्रायः लोगों ने वेद में 'व्यक्तियों' के इतिहास-वाद की धारणा बनाई। इसी से यास्क के निरुक्त को कई एक महानुभावों ने हेय तक कह डाला।

इसका प्रमाण "गङ्गा" मासिक पत्र के "वेदाङ्क"[१] से दिया जाता है जो बहुत उत्तम निकला है, जिसके लिये सम्पादक महोदय को हार्दिक धन्यवाद है। पर वे लेख हैं प्रायः वेद पर पूर्वपक्षरूप ही, जिनके समाधान का भार आर्यसमाज पर है। देखें भविष्य में आर्यसमाज इसके लिये क्या आयोजन करता है।

इस "वेदाङ्क" में गुरुकुल वृन्दावन के एक पण्डित महानुभाव का लेख है। उस लेख के सारभूत शब्द दे देने से ही ज्ञात हो जायगा कि जिन सज्जनों से समाधान की आशा रखनी चाहिये, उनको भी कहाँ तक इस विषय में भ्रम है।

लेखक महोदय के शब्द निम्न प्रकार हैं—

(क) "यास्क का निरुक्त देखने से पता चलता है कि पुराणों के अनुसार यास्क भी वेदों में इतिहास मानते थे"।

देवापि शन्तनु की कथा देते हुये लिखते हैं—

(ख) "तब शन्तनु ने देवापि से राज्य ग्रहण करने की प्रार्थना की। देवापि ने कहा—मैं तुम्हारा पुरोहित बनूँगा और यज्ञ कराऊँगा जिससे पानी बरसेगा"।

"ये हैं निरुक्तकार यास्काचार्य के शब्द। इससे महाभारत और यास्क के उपाख्यानों में घनिष्ठता आ गई है"।

---

१. सन् १९३२ में यह अंक छपा था।

(ग) आगे—'वत्' उपमावाची शब्द पर लिखते हुये (नि० ३।१६) में यास्क ने एक मन्त्र दिया है—

प्रियमेधवदत्रिवज्जातवेदो विरूपवत् ।
अङ्गिरस्वन्महिव्रत प्रस्कण्वस्य श्रुधी हवम् ॥

इसका वे अर्थ करते हैं—"ईश्वर! जैसे तुमने प्रियमेध आदि ऋषियों की प्रार्थना को सुना है। उसी प्रकार मुझ प्रस्कण्व की भी प्रार्थना सुनो॥ हमें यह अच्छी तरह स्मरण रखना चाहिये कि इस मन्त्र में आये हुये सब नाम यास्क के अनुसार ऋषियों के ही हैं। यास्क ने उनके विषय में लिखा है "प्रस्कण्वः कण्वस्य पुत्रः" आदि।"

(घ) तथा च······तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृङ्मिश्रं गाथामिश्रं भवति ॥ (निरु० ४।६)॥

अर्थात् "वेद इतिहासों, ऋचाओं, गाथाओं, से युक्त है"
(गङ्गा-वेदाङ्क १९३२ पृ० २६८, २६९)॥

हम लेखक महोदय को धन्यवाद देते हैं कि उन्होंने "निरुक्त में इतिहास" पर बहुत संक्षिप्त तथा उत्तम पूर्वपक्ष लिख दिया। यद्यपि मैं आप सज्जनों के सम्मुख बहुत से और भी पूर्वपक्ष रखता परन्तु प्रकृत विचार के लिये इतना ही पूर्वपक्ष पर्याप्त है, अतः अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं।

बस इस मौलिक भ्रम का दूर करना ही मेरे इस लेख के इस भाग का अभिप्राय है। इस इतिहासवाद के ठीक समझ में आ जाने से निरुक्त सम्बन्धी शेष शङ्कायें बहुत ही सुगमता से निराकृत हो जाती हैं॥

अथात्र समाधिः

निरुक्तकार यास्कमुनि ने अपने ग्रन्थ में विविध वादों का वर्णन किया है—

१ अध्यात्मम्, २ अधिदैवतम्, ३ आख्यानसमयः, ४ ऐतिहासिकाः, ५ नैदानाः, ६ नैरुक्ताः, ७ परिव्राजकाः, ८ पूर्वेयाज्ञिकाः, ६ याज्ञिकाः।

यह नौ प्रकार के वाद यास्क ने दर्शाये हैं। हम यहाँ केवल ऐतिहासिक-आख्यान पक्ष को ही लेंगे। शेष वादों के विषय में आगे लिखेंगे। निरुक्त में इतिहास शब्द ६ स्थलों में आता है। ३ स्थलों में "इति ऐतिहासिकाः" ऐसा है। ८ स्थलों में "आख्यान" शब्द का उल्लेख मिलता है॥

इन सब का समाधान निम्न प्रकार है—

हर एक ग्रन्थ की अपनी-अपनी परिभाषा (Techniques फारमूले Formula) हुआ करती है। जब तक उन पर भली प्रकार से विचार नहीं हो जाता, तब तक उस ग्रन्थ के अभिप्राय को नहीं समझा जा सकता। व्याकरणशास्त्र को ही ले लीजिये, उसमें 'अ, ए और ओ' इन तीन अक्षरों की "गुण" संज्ञा है, इसी प्रकार "वृद्धि" से व्याकरणशास्त्र में 'आ, ऐ और औ' इन तीनों को ही समझा जाता है। "बहुलं तणि" भाष्यकार पतञ्जलि "तणि से संज्ञा और छन्द का ग्रहण करते हैं", "किमिदं तणीति संज्ञाछन्दसोरिति"

व्याकरण में जहां-जहां गुण, वृद्धि, तणि आदि शब्द आवेंगे, वहां-वहां पर उपर्युक्तों का ही ग्रहण करना होगा, न कि वैशेषिक का गुण इत्यादि। यह बात प्रत्येक शास्त्र के विषय में सर्वसम्मत है। इससे कोई इनकार नहीं कर सकता॥

यास्क की इतिहास की परिभाषा

अब इस विषय में यास्क की अपनी परिभाषा क्या है, इसका निरुक्त से ही प्रतिपादन किया जाता है।

(१) निरुक्त में दिशा के नाम बताते हुए "काष्ठा" शब्द के उदाहरण में यास्क का निम्न लेख है—

अति॑ष्ठन्तीनामनिवेश॒नाना॒ं काष्ठा॑ना॒ं
मध्ये॒ निहि॑तं॒ शरी॑रम् ।
वृ॒त्रस्य॑ नि॒ण्यं॑ विच॑र॒न्त्यापो॑
दी॒र्घं॑ तम॒ आश॑य॒दिन्द्र॑शत्रुः ॥

ऋ० १।३२।१० ॥

तत् को वृत्रो मेघ इति नैरुक्ताः, त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः। अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते। तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति। अहिवत्तु खलु मन्त्रवर्णा ब्राह्मणवादाश्च ॥ (निरु० २।१६) ॥

अर्थात् (यहाँ इस मन्त्र में) वृत्र कौन है ? नैरुक्तों के मत में "वृत्र" नाम है मेघ का। ऐतिहासिकों के मत में "वृत्र" का अर्थ 'त्वाष्ट्र असुर' (त्वष्टा का पुत्र) है। जल सूर्य तथा विद्युत् के मिलने से वर्षा होती है। इसके जो युद्ध (संग्राम) का वर्णन है, वह उपमारूप से है (न कि वास्तविक किन्हीं मनुष्यों का युद्ध है)। इसमें अन्य हेतु भी देते हैं कि 'अहि' शब्द वाले मन्त्रों का वर्णन तथा ब्राह्मणवचन भी इस विषय में पाये जाते हैं। अर्थात् मन्त्रों और ब्राह्मणों में 'वृत्र' के सदृश 'अहि' को भी इन्द्र का प्रतिद्वन्द्वी कहा गया है। यहां 'उपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति' यह वचन यास्क के इतिहास की परिभाषा का एक अङ्ग है। भाव स्पष्ट है, अधिक क्या लिखें।

(२) अब हमें यह देखना है कि यास्क के मत में उपमारूप युद्ध

तथा अन्य इतिहास और आख्यानों को क्यों कहा गया है। इसका उत्तर यास्क स्वयं देते हैं—

"ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता" नि० १०। १० ॥

मन्त्रार्थों के द्रष्टा ऋषि की आख्यान अथवा इतिहास को लेकर (आख्यानों से युक्त) मन्त्रार्थ कहने में प्रीति होती है ॥

मन्त्रों के अर्थों में जहां-जहां आख्यान-इतिहास बतलाये गये हैं, वे सब उन-उन ऋषियों ने ऐसा कहने की प्रीति प्रेम के कारण से बतलाये हैं, वे वास्तविक नहीं अर्थात् किन्हीं मनुष्यादि व्यक्ति-विशेषों के इतिहास या आख्यान नहीं हैं। इस बात को भी ऊपर 'उपमार्थेन' कह कर यास्क ने अपना हृदय समक्ष रख दिया है।

जब ग्रन्थकार स्वयं ही स्पष्ट अपना भाव बता रहे हैं, तब ग्रन्थकर्त्ता के अभिप्राय से विरुद्ध भाव लेने से उस ग्रन्थ का यथार्थ तत्त्व कैसे समझ में आ सकता है। व्याकरणशास्त्र में "मिदेर्गुणः" (७।३।८२) "गुणोर्त्तिसंयोगाद्योः" (७।४।२९) के गुण से वैशेषिक का गुणपदार्थ तथा महाभाष्यकार का "विपरीतं तु यत् कर्म तत् कल्म कवयो विदुः" (१।४।५१) कल्म संज्ञा से उसके अभिप्रेत अर्थ को ग्रहण न करके वैशेषिक का गुण और वैशेषिक का कर्म अर्थ लेनेवाले क्या त्रिकाल में भी यथावत् अर्थ तक पहुँच सकते हैं ? कदापि नहीं।

यह "आख्यान की प्रीति" कहानी द्वारा समझाने की प्रीति, मेरे विचार में विश्व भर में व्यापक है। जैसा कि देखा जाता है बच्चों को स्वभाव से ही कहानी सुनने में प्रीति होती है। वे माता पिता को बार-बार कहते सुनाई देते हैं, "माता जी कहानी सुनाओ !" रात्रि को सोते समय प्रायः भारत में यह बात सर्वत्र देखी जाती है।

और देखिये ! व्याख्यानों में अथवा सामान्य पाठ पढ़ाने में भी

इसी प्रीति का अवलम्बन देखा जाता है। वही व्याख्यान वा पाठ अधिक सरल तथा सर्वग्राही समझा जाता है, जिसमें कोई दृष्टान्त हो (परन्तु आजकल तो मर्यादा से बहुत अधिक दृष्टान्तों की भरमार तथा वास्तविक तत्त्व का प्रायः अभाव रहने से ग्राह्य नहीं, केवल हँसी मजाक का प्रेमी बना देना बहुत हानिकर है)। शुष्क युक्तियाँ मात्र तो केवल तार्किक लोग ही सुनने को तैयार होंगे ॥

इसी बात का प्रतिपादन पुनः निरुक्त १०। ४६ "ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता" में किया है। इस से स्पष्ट है कि "यास्कमुनि मन्त्रों में आख्यान के कथन को ऋषियों की इस (आख्यान) रूप में कहने की प्रीति ही कारण बतलाते हैं, न कि वास्तविक आख्यान" ॥

(३) इन आख्यानों में व्यक्तिविशेषों का इतिहास होता है, यह बात नहीं। इसके लिये निरुक्त ५। २१ :—

आह्वयदुषा अश्विनावादित्येनाभिग्रस्ता तामश्विनौ प्रमुमुचतुरित्याख्यानम्।

अर्थात् उषा ने अश्वियों को बुलाया। आदित्य ने उसको अभिग्रस्त किया हुआ था। उसको अश्वियों ने छुड़ाया। ऐसा आख्यान (इतिहास) है। ऐसा वर्णन है।

प्रातः सूर्योदय से लेकर सायंकाल के समय सूर्यास्त पर्यन्त उषा को सूर्य अभिग्रस्त किये हुये होता है[1]। उसको अश्वि मुक्त कराते हैं। सो "अश्विनौ" कौन हैं इस विषय में भी अपनी कल्पना न लिख कर हम यास्क के शब्दों में ही देते हैं—

तत् कावश्विनौ ? द्यावापृथिव्यावित्येकेऽहोरात्रावित्येके।

---

१. सूर्योदय होने पर उषा नष्ट हो जाती है। उषा काल में अह = प्रकाश, रात्रि + तमः का संयोग होता है।

सूर्याचन्द्रमसावित्येके राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिकाः ॥
निरु० १२।१ ॥

अर्थात् वे 'अश्विनौ' कौन हैं। वह द्यावापृथिवी हैं, कुछ आचार्य ऐसा मानते हैं। दूसरे आचार्य कहते हैं, नहीं 'अश्विनौ' दिन और रात्रि का नाम है। तीसरे आचार्य इन दोनों अश्वियों को सूर्य और चन्द्रमा बतलाते हैं। इधर ऐतिहासिक (इतिहास को मानने वाले) लोग इन्हीं अश्वियों से "पुण्यशील दो राजा" ऐसा अर्थ लेते हैं" ॥

इसी प्रकार अन्यत्र भी है—

(क) द्यावापृथिवी वा अश्विनौ। काठक सं० १३। ५ ॥

(ख) इमे ह वै द्यावापृथिवी प्रत्यक्षमश्विनौ।
श० ४। १। ५। १६ ॥

(ग) अहोरात्रे वा अश्विनौ। मै० सं० ३। ४। ४ ॥

(घ) अश्विनावध्वर्यू। श० १। १। २। १७ ॥

(ङ) सूर्याचन्द्रमसौ तौ हि प्राणापानौ च तौ स्मृतौ।
अहोरात्रौ च तावेव स्यातां तावेव रोदसी ॥१२६॥
अश्नुवाते हि तौ लोकान् ज्योतिषा च रसेन च।
पृथक् पृथक् च चरतो दक्षिणेनोत्तरेण च ॥१२७॥
बृहद्देवता ७। १२६, १२७ ॥

ये सब प्रमाण निरुक्त के पूर्वोक्त स्थल की पुष्टिमें ही दिये गये हैं।

अतः "तामश्विनौ प्रमुमुचतुः" का अर्थ उस "उषा" को "अश्विनौ" अर्थात् दिन और रात्रि ने मुक्त किया। रात्रि के अन्त में ही अह=प्रकाश का संयोग होने से उषा का प्रादुर्भाव होता है।

यहाँ निरुक्तकार के आख्यान का स्वरूप ज्ञात हुआ कि 'उषा' को अश्वियों ने छुड़ाया। क्या उषा और अश्विनौ यहाँ व्यक्तिविशेष के नाम हैं ?

(४) पि॒ता दु॑हि॒तुर्गर्भ॒माधा॑त् (ऋ० १ । १६४ । ३३) ॥

पिता दुहितुर्गर्भं दधाति, पर्जन्यः पृथिव्याः ॥

निरुक्त ४ । २१ ॥

यहाँ पिता और दुहिता शब्द यौगिक हैं रूढ़ि नहीं, यह बात स्वयं यास्क ने पर्जन्य—मेघ और पृथिवी यह दोनों अर्थ निर्देश करके बतला दी।

यहाँ एक बात और ध्यान देने की है कि पिता, पुत्र, दुहिता, मातादि शब्द केवल लौकिक माता पिता परक ही नहीं होते अपितु इनके अर्थ अनेक प्रकार से होते हैं। इधर जड़ पदार्थों के लिये भी पुत्रादि शब्दों का प्रयोग यास्क ने किया है। तद्यथा—

(क) तनूनपादाज्यमिति कात्थक्यः। नपादित्यनन्तरायाः प्रजाया नामधेयं, निर्णततमा भवति। गौरत्र तनूरुच्यते। तता अस्यां भोगाः, तस्याः पयो जायते पयस आज्यं जायते ॥

निरु० ८ । ५ ॥

अर्थात् कात्थक्य आचार्य के मत में तनूनपात् आज्य (घृत) का नाम है। नपात् अन्तरापत्य (=पौत्र) प्रजा का नाम है। यहाँ तनू का अर्थ है गौ। क्योंकि उसमें भोग विस्तृत होते हैं (दुग्ध दधि रूप में) उससे दूध उत्पन्न होता है और पयः (दुग्ध) से घी निकलता है अतः घृत गौ का पौत्र है।

इससे स्पष्ट है निरुक्तकार पुत्रपौत्रादि शब्दों का प्रयोग जड़ वस्तुओं में भी मानते हैं। अतः केवल पुत्र पौत्रादि शब्दों का प्रयोग हो जाने से इतिहास की घबराहट में पड़ने की आवश्यकता नहीं।

(ख) सुभा चं मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने ॥

इस मन्त्र में सभा और समिति दोनों को प्रजापति की दुहिता = लड़की बताया है।

(५) शेष रहा ब्राह्मणादि में इतिहास का वर्णन, इस सम्बन्ध में भी मैं अपनी ओर से कुछ न कह कर यास्क के अपने शब्द ही देता हूँ—

यथो एतद् ब्राह्मणं भवतीति, बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति (निरु० ७ । २४ ॥)

अर्थात्—ब्राह्मणों का इस प्रकार जो कथन है, वह भक्तिवाद को लेकर है—अर्थात् किन्हीं गुणों को लेकर वैसा कहा गया है। वास्तविक घटनायें इस प्रकार की हुई हैं, यह बात नहीं। यहाँ पर इतना ध्यान रहे कि ब्राह्मण सर्वांश में भक्तिवाद को लेकरही कहता हो ऐसा नहीं। न ही यास्क का ऐसा अभिप्राय है। क्योंकि निघण्टु तथा निरुक्त में आये हुये अनेक शब्द इसके प्रमाण हैं, जिनका ब्राह्मणों में भी उसी प्रकार से व्याख्यान किया गया है। वास्तव में यास्क के इन निर्वचनों का आधार ब्राह्मण ग्रन्थ ही हैं। इतने से यह स्पष्ट है कि ब्राह्मणादि में आये हुये इतिहासों को यास्क कैसा मानते हैं।

(६) मूल निरुक्त के ये सब प्रमाण हमने दिये, जिससे यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है। कि इतिहास के विषय में निरुक्तकार उपमार्थ—आख्यान की प्रतिमात्र ब्राह्मणों के आधार पर बहुभक्तिवाद—मानते हैं।

अब इस प्रसङ्ग में यह कहना भी अनुपयुक्त न होगा कि जब यास्क जैसा कि पूर्व लिखा जा चुका है कि "पुरुषविद्यानित्यत्वात्"

(निरु० १ । २)" तथा "ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत्"(निरु० २ । ११) "नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति ।" (नि० १ । १५) यह कह कर वेद को अपौरुषेय और नित्य मानते हैं। तब वह वेद में अनित्य इतिहास मान ही कैसे सकते हैं ? जो कहा जाता है वह "गौणिक-उपमारूप, औपचारिक" है। इस विषय का मूल हमने निरुक्तकार के अपने शब्दों में बतलाया ॥

निरुक्त के आधार ब्राह्मण आरण्यक

तथा

वेद में इतिहास

इस विषय में मैं बहुत संक्षेप से निरुक्त की पुष्टि में कुछ एक स्थल निर्देश कर देना ही पर्याप्त समझता हूँ—

(१) निरुक्त २ । १६ की उपर्युक्त वृत्रासुर की कथा पर 'ब्राह्मण' क्या कहता है देखिये शतपथ ११ । १ । ६ । ९ में लिखा है—

तस्मादाहुर्नैतदस्ति यद् दैवासुरमिति । पृ० ५५० ॥

अर्थात् 'वृत्रासुर' युद्ध हुआ नहीं, अपितु उपमार्थ युद्ध का वर्णन है, यह शतपथ के लेख से सर्वथा स्पष्ट है।

(क) प्रजापतिः स्वां दुहितरमभिदध्यौ । दिवं वोषसं वा मिथुन्येनयास्यामिति ताᳬसम्बभूव ।...स वै यज्ञ एव प्रजापतिः ॥ शतपथ १ । ७ । ४ । १—४ ॥

(ख) प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यैदुषसम् ॥

मै० सं० ३।६।५ ॥ ४।२।१२; (मनुस्मृतिमेधातिथिभाष्येऽपि १।३२) ॥

(ग) स (प्रजापतिः = संवत्सरः = वायुः) आदित्येन दिवं मिथुनं समभवत् ॥ श० ६ । १ । २ । ४ ॥

(घ) प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यधावद् दिवमित्यन्य आहुरुषसमित्यन्ये ॥ ऐ० ब्रा० ३।३३॥

प्रजापति की इस कथा का वर्णन ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० २९७ में ऐसा ही है, जैसा कि इन ऊपर के प्रमाणों में है। इस से इस प्रकरण के इतिहास को ब्राह्मणकार उषा सूर्यादि नित्य पदार्थपरक ही बतलाते हैं। यह इन उपर्युक्त उद्धरणों से सर्वथा स्पष्ट हो जाता है।

(२) शतपथब्राह्मण के अष्टम काण्ड के प्रथम तीन ब्राह्मणों में यजुर्वेद अध्याय १३ के ५४-५८ तक के मन्त्रों में आये 'वसिष्ठ' आदि शब्दों का स्वरूप शतपथकार बताते हैं—

(क) वसिष्ठ ऋषिरिति (य० १३।५४ प्रतीक) प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिर्यद्वै नु श्रेष्ठस्तेन वसिष्ठोऽथो यद् वस्तृतमो वसति तेनो एव वसिष्ठः......। श० ८।१।१।६॥

(ख) भारद्वाज ऋषिरिति (य० १३।५५ प्रतीक) मनो वै भरद्वाज ऋषिरन्नं......वाजं भरति तस्मान्मनो भारद्वाज ऋषिः ॥ श० ८।१।१।९॥

(ग) जमदग्निर्ऋषिरिति। चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिर्यदनेन जगत् पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः ॥ श० ८।१।२।३॥

(घ) विश्वामित्र ऋषिरिति। श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिर्यदनेन सर्वतः शृणोत्यथो यदस्मै सर्वतो मित्रं भवति तस्माच्छ्रोत्रं विश्वामित्र ऋषिः ॥ श० ८।१।२।६॥

(ङ) विश्वकर्मऽऋषिरिति वाग् वै विश्वकर्मर्षिः। वाचा हीदꣳसर्वं कृतं तस्माद्वाग्विश्वकर्मर्षिः...। श० ८।१।२।८॥

इन उद्धरणों में "वसिष्ठ" ऐसा यजुः मूल मन्त्र का पाठ है। मन्त्र निम्न प्रकार है—

वसिष्ठऽऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया प्राणं गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥ यजु० १३।५४॥

यहां पर शतपथब्राह्मण में वसिष्ठ ऋषि का अर्थ प्राण, भरद्वाज का मन, जमदग्नि का चक्षुः, विश्वामित्र का श्रोत्र और विश्वकर्मा का वाग् अर्थ किया गया है। और अपनी ओर से ही वसिष्ठ ऋषि का अर्थ प्राण किया हो यह बात नहीं, अपितु मन्त्र में आये हुए शब्दों का ही क्रमशः व्याख्यान किया गया है। इस सम्पूर्ण प्रकरण को पढ़ जाने से इस में वसिष्ठादि से इन भौतिक पदार्थों का ही ग्रहण किया गया है और कुछ भी नहीं। अतः इस से स्पष्ट है कि—ब्राह्मणकार संहितान्तर्गत वसिष्ठादि शब्दों को व्यक्तिविशेष नहीं मानते। इसको यहाँ यही दिखाना अभिप्रेत है ॥

पूर्वोक्त कथन में हरिस्वामी की साक्षी

(क) यद्यपि किञ्चिदनित्यार्थवचनमिव दृश्यमानं ततो वृत्तान्तादर्वाक् प्रवृत्तं वा ग्रन्थस्यांशं कथयति—

वृत्रो ह वा इदं सर्वं वृत्वा शिश्य इत्यादि तदपि नैरुक्तदिशा प्रवाहनित्यमेष विद्युदादिव्यवहारवाचित्वेन, ऐतिहासिकदिशां वा सर्ववृत्तान्तानामेव शीतोष्णवर्षाद्यावर्त्तवद्यथाकालवर्त्तमानानां अनाद्यनन्तानां वेदेन कर्मकालेऽतीतरूपेण प्रतिपादनाददोषः।

(शतपथ हरिस्वामिभाष्य हमारा हस्तलेख पृ० १४)॥

(ख) एवमपि (इतिहासदृष्ट्याऽपि) व्यवहारमुक्त्वा नैरुक्तदृष्ट्या प्रत्यक्षमिन्द्रवृत्रव्यवहारं दर्शयन्नाह—

"तद् वा एते देवा इति।" अत्र च वृत्रहा आदित्योऽभिप्रेतः। वक्ष्यति हि "तद्वा ह एष एवेन्द्रो य एष तपति" तस्य वृत्रं हनिष्यतो यज्ञमिदमुपायभूतं···। (पूर्ववत् पृ० १६०)॥

(ग) आधिदैविकं सूक्ष्मार्थं दर्शयति। (पूर्ववत् पृ० ७१)॥

शतपथ ब्राह्मण के भाष्यकर्त्ता हरिस्वामी के उपर्युक्त उद्धरणों से भी स्पष्ट है कि वह विद्युत् आदिप्रवाह से नित्यपदार्थों का इतिहास ही मानते हैं॥

उपनिषद् तथा आरण्यक (प्रायः) मन्त्रों के आध्यात्मिक अर्थ का ही प्रतिपादन करते हैं। उनमें तो इस विषय के अत्यधिक प्रमाण मिलते हैं। यहाँ केवल तै० आ० का एक ही स्थल दिया जाता है :—

इन्द्र ईश्वरः। मेधातिथिरग्निः। अहल्या वाक्। कुशिका अग्निः। ऐतिहासिकास्त्वाहुः॥ भट्टभास्कर भाष्य पृ० १०२,१०३॥

इस प्रकार ब्राह्मण तथा आरण्यकों की परम्परा में भी इन इतिहास परक शब्दों का अर्थ नित्य पदार्थों में लगाया है। यही संक्षेप से दिखाना हमारा लक्ष्य था। इस विषय की अतीव मनोग्राही व्याख्या वेदों के प्रौढ़ विद्वान् श्रद्धास्पद श्री पं० शिवशङ्कर जी कृत "वैदिकेतिहासार्थनिर्णय" में देख सकते हैं। यहाँ निरुक्त से सम्बन्ध रखने वाली बात ही केवल हमने लिखी है।

यास्क के अनुवर्त्ती नैरुक्ताचार्यों की ऐतिहासिक परिभाषा का स्वरूप

यास्क के पश्चात् अनेक आचार्यों ने निरुक्त का व्याख्यान किया इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। सामान्यतया प्रसिद्धि तो इतनी ही

है कि दुर्ग ने निरुक्त पर टीका लिखी। परन्तु अब विविध महानुभावों की खोज से इस विषय के लगभग ६-७ आचार्यों का ज्ञान हमको प्राप्त हो रहा है जो निम्न प्रकार है—

(१) निरुक्त वार्त्तिक (इसका वर्णन पूर्व कर चुके हैं)[1]
(२) वर्वर स्वामी (देखो स्कन्द निरुक्त टीका)
(३) स्कन्द महेश्वर
(४) दुर्ग
(५) श्रीनिवास (देखो देवराजयज्वा निघण्टु भाष्य)
(६) नागेशोद्धृत निरुक्तभाष्य (वैयाकरणभूषणे)
(७) वाररुच निरुक्तसमुच्चय

नैरुक्तप्रक्रिया के इतने आचार्यों का हम को इस समय तक पता लगा है। अन्य भी इस प्रक्रिया पर न जाने कितने ग्रन्थ लिखे गये होंगे। परन्तु काल के चक्र और हम भारतवासियों के प्रमाद के कारण न जाने कितने ग्रन्थ नष्ट हो गये तथा इस समय भी पर्याप्त प्रयत्न न होने से नष्ट होते जा रहे हैं।

(८) महाभाष्य पर सबसे प्रथम जो ग्रन्थ लिखा गया, वह "भर्तृहरि" की टीका है, जिसका असली हस्तलेख जर्मनी में है। उसके फोटो दो एक स्थानों पर भारतवर्ष में भी हैं।[2] उसके पृ० ४२ पर निम्न पाठ है—

निरुक्ते त्वेवं पठ्यते। विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति। तत्रायमर्थः क्रियते—अच्प्रत्ययान्तस्य यो विकार एकदेशस्तमेव भाषन्ते न शवतिं सर्वप्रत्ययान्तां प्रकृतिमिति।

भर्तृहरि महाभाष्य टीका पृ० ४२॥

---

१. अर्थात् 'वेद और निरुक्त' नामक निबन्ध में।

२. पूर्व लाहौर जो अब पाकिस्तान में है, के अतिरिक्त ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट बड़ोदा और गवर्नमेण्ट मेनुस्क्रप्ट लायब्रेरी मद्रास में है।

इस उद्धरण से भी स्पष्ट है कि भर्तृहरि किसी निरुक्त के भाष्य को लक्ष्य में रख कर ही "तत्रायमर्थः क्रियते" ऐसा लिखते हैं। इससे यास्क के पश्चाद्वर्त्ती नैरुक्ताचार्यों की संख्या ८ हो जाती है। इन सब आचार्यों के ग्रन्थ यदि मिल जावें तो यह निश्चय से कहा जा सकता है कि वेदविषयक अनेक रहस्य खुलें। तथा स्वामी दयानन्द जी महाराज की धारणाओं के लिये अधिक से अधिक प्रमाण मिलें॥

इन सबके उद्धरण हम प्रकृतविषय में नहीं दे सकते क्योंकि जब ग्रन्थ ही उपलब्ध नहीं तो उद्धरण कहाँ से दिये जा सकते हैं। जो ग्रन्थ मिलते हैं वे तीन ही हैं, प्रथम "वररुचि" आचार्य का "निरुक्त-समुच्चय", द्वितीय स्कन्दस्वामी तथा तृतीय दुर्ग इन दोनों की टीकायें॥

आचार्य स्कन्दस्वामी वर्त्तमान में उपलब्ध होने वाले वेद-भाष्यकारों में सर्वतः प्रथम हैं। अतः ऐसे योग्य आचार्य की निरुक्तटीका को हमें अधिक आदर और सम्मान की दृष्टि से देखना होगा। तथा हमारे प्रकृतविषय में जितनी उपयुक्त सामग्री हमें स्कन्द की निरुक्त टीका में मिलती है, इतनी कहीं नहीं। अतः इन से पूर्ववर्त्ती प्राचीन 'आचार्य वररुचि' के "निरुक्तसमुच्चय" जिसको स्वयं स्कन्द ने उद्धृत किया है, का प्रमाण भी हम पीछे प्रस्तुत करेंगे।

स्कन्द स्वामी का काल सन् ६३० निश्चित किया जाता है। दुर्ग के विषय में भिन्न २ मत हैं पर हम दुर्ग के प्रमाण स्कन्द तथा वररुचि से पीछे देंगे।

स्कन्द स्वामी और वेद में इतिहास

आचार्य स्कन्द स्वामी की निरुक्त टीका पंजाब विश्वविद्यालय लाहौर की ओर से छप चुकी है। मैं कह सकता हूँ यदि उक्त ग्रन्थ मुझे प्रकाशन से पूर्व छपे पृष्ठों के रूप में न मिला होता तो मैं निरुक्त सम्बन्धी अपनी सम्पूर्ण धारणाओं को इतने बलपूर्वक इस

रूप में आप सज्जनों के सम्मुख न रख सकता।[१]

जिस "देवापि और शन्तनु" की कथा को लेकर विदेशीय तथा एतद्देशीय विद्वान् भ्रम में पड़ जाते हैं जैसा कि इस लेख के आरम्भ में दर्शाया जा चुका है, इस प्रकरण का कैसा मनोरञ्जक व्याख्यान आचार्य स्कन्द स्वामी करते हैं—

(क) अथवा ऋष्टिः रेषणा हिंसा च कामादीनाम्, अन्तश्चरश्शत्रूणां सेना समुदायः, स चेन्द्रियाणाम्। एतदुक्तं भवति—विषयाभिलाषवैमुख्यात् कामादिचित्तमलरेषणप्रधाना सेना इन्द्रियग्रामो यस्य, दूषिता वा प्रेषिता वा गता, पराङ्मुखीभूता प्रत्याहारेण विषयेभ्य इन्द्रियसेना यस्य ॥

स्कन्द निरु० टी० भा० २ पृ० ७३ ॥

अर्थात् ऋष्टिषेण उसका नाम है जिसकी इन्द्रियाँ रूपी सेना विषयों से पराङ्मुख पृथक् हो चुकी हों।

(ख) नित्यपक्षे ऋग्द्वयस्यान्यदर्थयोजना आर्ष्टिषेणः ऋष्टिषेणो मध्यमं तत्र भवत्वाच्चार्ष्टिषेणो वैद्युतः। तस्य पार्थिवात्मावस्थितस्य होतृत्वेन देवापित्वम्। शिष्टो मन्त्रः पूर्ववद् योज्यः ॥ (पृ० ७७)

अर्थात् "नित्य पक्ष में दोनों ऋचाओं (ऋ० १०।९८।७,८) की भिन्न रीति से अर्थ की योजना करनी चाहिये जो निम्न प्रकार है—ऋष्टिषेण मध्यम का नाम है। उसमें रहने वाला मध्यमस्थानी हुआ आर्ष्टिषेण, सो नाम है विद्युत् का। वह जब पार्थिवरूप से अर्थात्

---

१. यह निबन्ध सन् १९३२ में लिखा गया था। अतः उस समय की दृष्टि से यह पंक्ति लिखी है।

पृथ्वी में वर्त्तमान होता है, तब उसका होता रूप से देवापित्व देवापिपन होता है। शेष मन्त्र की योजना पूर्ववत् कर लेनी चाहिये"॥

(ग) देवापिर्विद्युत्। शन्तनुरुदकं वृष्टि-लक्षणम्। यद् यदा देवापिर्वैद्युतः शन्तनवे वृष्टिलक्षणस्योदकस्यार्थाय, पुरोहितः पूर्वं हि विद्योतते पश्चादुदकं······पूर्ववद् योज्यम्॥

स्कन्द निरु० टी० भा० २ पृ० ७०॥

अर्थात् देवापि यहाँ विद्युत् का नाम है और शन्तनु उदक= जल का नाम है। वृष्टिरूप जल विद्युत् से ही बरसता है। इस देवापि विद्युत् को मन्त्र में 'पुरोहितः' लिखा है। इसको स्कन्द स्वामी बताते हैं—"पूर्वं हि विद्योतते पश्चादुदकम्।" पहिले विद्युत् चमकती है तब वर्षा होती है, अतः देवापि-विद्युत् पुरोहित कहलाता है।······आगे पूर्ववत् योजना कर लेनी चाहिये।

(घ) अथवा कश्चिद् राजा जायमानोऽनावृष्ट्या क्षतसेन ऋष्टिषेण उच्यते।

अर्थात् जिस राजा की सेना अनावृष्टि से हत हो जावे उसको ऋष्टिषेण कहते हैं।

देवापि—शन्तनु की सारी कथा के नित्य अर्थ की योजना स्कन्द स्वामी ने दर्शा दी, जिससे वेद में इतिहास का निरुक्तकार यास्क का क्या स्वरूप है, यह भली-भाँति ज्ञात हो गया। परन्तु एक इस कथा की योजना सङ्गति (जिसको आज कलके हतबुद्धि लोग खींचातानी बतलाते हैं) लग जाने से सम्पूर्ण निरुक्तशास्त्र की कथाओं, यद्वा वेद में आये हुये ऐसे सर्वस्थलों का समाधान नहीं हो जायगा, ऐसी

आशङ्का को मन में रखकर ही आचार्य स्कन्दस्वामी ने सुहृद् हो कर इतिहास की परिभाषा का स्वरूप कैसे उत्तम शब्दों में दर्शाया है।

(ङ) एवमाख्यानस्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्त्तव्या। एष शास्त्रे सिद्धान्तः। तथा च वक्ष्यति (नि० २। १६)—तत् को वृत्रः, मेघ इति नैरुक्ताः इत्यादि। मध्यमञ्च माध्यमिकां च वाचम् इति नैरुक्ताः (निरु० १२। १०)। रात्रिरादित्य स्योदयेऽन्तर्धीयत इति। औपचारिको मन्त्रेष्वाख्यानसमयः, परमार्थेन तु नित्यपक्ष इति सिद्धम्। स्कन्द निरु० टी० भा० २ पृ० ७८ ॥

अर्थात्—"इसी प्रकार जिन जिन मन्त्रों में आख्यान-इतिहास का स्वरूप वर्णन किया गया है, उन सब मन्त्रों की यजमान परक अथवा नित्य पदार्थों में योजना कर लेनी चाहिये। यह निरुक्त शास्त्र का सिद्धान्त है, जैसा कि आगे आचार्य (यास्क) कहेंगे। वृत्र कौन है ? नैरुक्तों के मत में वृत्र का अर्थ है मेघ। (सरण्यू से एक जोड़ा पैदा हुआ—यम और यमी) ये यम और यमी नैरुक्तों के मत में विद्युत् और माध्यमिक वाक् के नाम हैं। ऐतिहासिकों के मत में इसका अर्थ 'यम यमी कहा गया है। इत्यादि········ मन्त्रों में इतिहास, आख्यान का सिद्धान्त औपचारिक अर्थात् गौण है। वास्तव में तो नित्य पक्ष ही मन्त्रों का विषय है" ॥

हमारे विचार में इससे बढ़कर और स्पष्ट साक्षी क्या हो सकती है ? केवल "देवापि और शन्तनु" को विद्युत् और जल बना कर इन मन्त्रों या सूक्त की ही सङ्गति नहीं दिखाई, अपितु इस विषय

में सारे निरुक्तशास्त्र का सिद्धान्त भी प्रतिपादित कर दिया। "एष शास्त्रे सिद्धान्तः, परमार्थेन तु नित्यपक्ष इति सिद्धम्" क्या ये उद्धरण कुछ भी टिप्पणी की अपेक्षा रखते हैं ?

निरुक्तसमुच्चय

अत्यन्त प्रसन्नता तथा आश्चर्य की बात है कि 'वररुचि' आचार्य के हस्तलिखित ग्रन्थ[1] "निरुक्तसमुच्चय" (जिसका मैंने ऊपर वर्णन किया है) में भी आचार्य स्कन्दस्वामी के उपर्युक्त शब्द पूर्वलेख के ही सर्वथा अनुरूप अर्थात् एक जैसे मिलते हैं। यह ध्यान रहे कि इस 'निरुक्तसमुच्चय' ग्रन्थ को स्कन्दस्वामी ने निरुक्त टीका में उद्धृत किया है। लेख निम्न प्रकार है—

औपचारिकोऽयं मन्त्रेष्वाख्यानसमयो नित्यत्वविरोधात्। परमार्थेन तु नित्यपक्ष एव इति नैरुक्तानां सिद्धान्तः ॥

(पृ० ७१)* ॥

अर्थात्—मन्त्रों में इतिहास औपचारिक (गौण) है, क्योंकि इतिहास मानने से वेद के नित्यत्व में विरोध हो जायगा। परमार्थ से तो नित्यपक्ष ही (ठीक) है, यह नैरुक्तों का सिद्धान्त है ॥

---

१. जब सन् १९३२ में यह लेख लिखा गया था, तब तक यह ग्रन्थ छपा नहीं था। इसकी एक ही हस्तलिखित मूल प्रति मद्रास में है उसी की प्रतिलिपि श्री पं. भगवद्दत्त जी ने लालचन्द पुस्तकालय लाहौर में मँगवाई थी। उससे हमने प्रतिलिपि की थी।

* यह ग्रन्थ ओरियण्टल मेगजीन लाहौर की पत्रिका में सन् १९३९ में छपा था। उसका पुनः संस्करण १९६५ में छपा है। पृष्ठ संख्या लाहौर संस्करण की दी गई है। यु० मी०

सर्वथा स्कन्दस्वामी जैसे ही ऊपर के शब्द हैं, जैसे दोनों ने सम्मति कर के ही लिखे हों। यह है वेद में इतिहास विषय की नैरुक्तों की परिभाषा का स्वरूप। इन दोनों प्रमाणों से सिद्धान्त-रूप से ऐतिहासिकपक्ष का औपचारिकत्व गौणत्व सूर्य-प्रकाश की भाँति सिद्ध है। हम समझते हैं पक्षपातरहित विद्वानों को नैरुक्तों के इस सिद्धान्त को मानने में अब यत्किञ्चित् भी ननु नच न होगी। हाँ जो इस पर भी न मानें उनके लिये तो कहा ही है—

"ब्रह्मापि तं नरं न रञ्जयति" ॥

अब हम विद्वानों के मनोरञ्जनार्थ इन दोनों ग्रन्थों के आवश्यकीय कुछ स्थल और उपस्थित करते हैं, जिससे यदि कोई कहे कि न जाने एक आध स्थल प्रक्षेप ही हो गया हो या कुछ और, इस विचार को भी कुछ स्थान न रह जावे—

आचार्य वररुचि के शेष स्थल

(क) ऊपर वाले उद्धरण से पूर्व ऋ० १०।९५।१४ "सुदेवोऽद्य" के व्याख्यान में—

एवमितिहासपक्षे योजना। नैरुक्तपक्षे तु पुरुरवा मध्यम-स्थानः वाय्वादीनामेकतमः पुरु रौतीति पुरुरवा, उर्वशी विद्युत् विस्तीर्णमन्तरिक्षं अश्नुते दीप्यत इति उर्वशी वर्षाकाले विद्युति········। (निरुक्तसमुच्चय पृ० ७१) ॥

यहाँ पुरुरवा को मध्यमस्थानी और उर्वशी को विद्युत् बताया ॥

(ख) ओ चित् सखायं सख्या ववृत्यां···। ऋ० १०।१०।१॥

प्रथमं तावदैतिहासिकमतानुसारेणायं मन्त्रो व्याख्या-यते······एवमैतिहासिकपक्षे योजना। नैरुक्तपक्षे तु मध्यमं च माध्यमिकां च वाचमिति नैरुक्ताः। यमं च यमीं चेत्यैति-हासिकाः (निरु० १२।१०) यमी मध्यमस्थाना वाक्।, यमश्च मध्यमस्थानः। सा यमी वर्षाकाले मध्यमस्थानाभिमुख्येन सखायं सहस्थानयोगात्······एवं नित्यत्वाविरोधेन योज्यम्।

(निरुक्तसमुच्चय पृ० ७३)

(ग) अथाभिव्यक्त्यर्थं प्रथमं तावदाख्यानं प्रस्तौति॥

(निरुक्तसमुच्चय पृ० ६६)॥

अर्थात्—यमयमी मध्यमस्थानी हैं। वेद के नित्यत्व में विरोध न आवे, इस प्रकार योजना कर लेनी चाहिये॥

अर्थ को स्पष्ट करने के लिये आख्यान (इतिहास) प्रस्तुत करते हैं।

ये सब प्रमाण भी आचार्य 'वररुचि' की वेद में इतिहास की परिभाषा-भावना के स्वरूप को विस्पष्ट दर्शा रहे हैं॥

स्कन्दस्वामी के शेष स्थल

स्कन्दस्वामी के शेष कुछ आवश्यक स्थल और देते हैं—

'गङ्गा' के उपर्युक्त देवापि-शन्तनु प्रकरण पर हमने संक्षेप में स्कन्दस्वामी का समाधान दिया है। इस विषय पर कभी फिर विशेष रूप से विचार किया जायगा।[1]

अब इस प्रकरण के आरम्भ में दिये हुए पूर्व-पक्ष वाले लेख के दूसरे स्थल "प्रियमेधवदत्रिवत्······" को उठाते हैं जिससे पूर्वपक्षी

१. यह लेख भी इसके पश्चात् छपेगा।

लेखक महोदय तथा ऐसे ही अन्य विदेशीय तथा एतद्देशीय विद्वान् कहते हैं कि "हमें यह अच्छी तरह स्मरण रखना चाहिए कि इस मन्त्र में आये हुए सब (प्रियमेध, अत्रि, जातवेदः, विरूप, अङ्गिरस्, प्रस्कण्व) नाम यास्क के अनुसार ऋषियों के ही हैं (गङ्गा वेदाङ्क १९३२ पृ० २६८, २६९)॥

सो इस पर हम स्कन्दस्वामी का लेख उद्धृत करते हैं—

(१) नित्यपक्षे तु सततप्रवृत्तयज्ञः कश्चिद्यजमानः प्रियमेध उच्यते, तथा भृग्वादयोऽपि जमानविशेषा एव। भृगुः पञ्चतपःप्रभृतिना तपसा भृज्यमानोऽपि देहे। गार्हपत्योपायित्वादिना अङ्गारेषु वसतीत्यङ्गिराः। अदनाद् :भक्षणाद् रागादीनां दोषाणामत्रिः। विविधं खननाद् वेदार्थवस्तूनां वैखानसः। वैरूप्यात् तपसा विरूपः। यथैतेषामृषीणाम् दर्शनाद् ऋषयः। प्रस्कण्वः कण्वस्य मेधाविनः पुत्रः। एकवाक्यता तु पूर्ववद् योजनीयेति॥ (स्कन्द नि० टी० भा० २ पृ० १८०)॥

अर्थात्—"नित्यपक्ष में प्रियमेध किसी यज्ञ में निरन्तर प्रवृत्त रहनेवाले यजमान का नाम है। इसी प्रकार भृगु आदि भी यजमानविशेष ही हैं। गार्हपत्य अग्नि के उपाय में लगाने के कारण अङ्गारों में रहने से (यजमान) 'अङ्गिराः'। रागादि दोषों के खा जाने (नष्ट कर देने) के कारण 'अत्रिः'। वेद के अर्थरूप तत्त्वों की खोज करनेवाला होने के कारण वैखानस। विविधरूप वाले से विरूप। जैसे इन ऋषियों को—(वेदार्थादि का) दर्शन करने से ऋषिः। (ये सब ऊपर यजमानविशेष कहे गए हैं)। प्रस्कण्व कण्व का पुत्र, कण्व नाम है मेधावी बुद्धिमान् का, उसका पुत्र। एक-वाक्यता पूर्ववत् समझ लेनी चाहिये"॥

कैसा उत्तम अर्थ है। कहाँ इतिहास और कहाँ यह उत्तम अर्थ। कहाँ पूर्व-पक्षी की घोषणा कि यास्क प्रदर्शित ये नाम ऋषियों के ही हैं। देखिये ऊपर वाले लेख में तो स्पष्ट "यजमान-विशेषाः" ही लिखा है। इसी से शास्त्र कहता है—"बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदः" ॥

यहाँ हम एक बात प्रसङ्गतः और कहना आवश्यक समझते हैं, वह यह कि ऐसा अर्थ स्वामी दयानन्द ने किया होता तो और तो और कोई २ विद्वान् कहलाने वाले मनचले आर्य भी झट स्वामी दयानन्द पर खींचातानी का दोष आरोपित कर देते। पर्याप्त विद्या न होने से अथवा अनार्षपद्धति का ही अनुसरण करते रहने से ऐसे लोगों की बुद्धि भ्रान्त हो जाती है। जब इन को सायण या किसी दूसरे का अर्थ दिखा दिया जाता है तब ऐसे लोग एक दम शान्त हो जाते हैं। उस समय इन लोगों को उसी अर्थ में (जिसकी ओर आँख उठा कर भी नहीं देखते थे) सुसङ्गति, सुसम्बद्धता, सोपपन्नतादि प्रायः सम्पूर्ण गुण दीखने लग जाते हैं !!! ऐसे लोगों को वेदार्थ क्या कभी समझ में आ सकता है ? चाहे ऐसे लोग आर्यसमाज में कुछ भी क्यों बने रहें, पर इन से आर्यसमाज को लेशमात्र भी लाभ नहीं हो सकता। हाँ, हानि तो अकथनीय हो ही रही है ॥

इस ऊपर वाले "प्रियमेधवत्'.....ऋ० १।४५। ३" मन्त्र का ऋषि दयानन्द का किया हुआ अर्थ भी दिये देते हैं—आश्चर्य और प्रसन्नता की बात है— स्वामी जी महाराज ने इस मन्त्र का अर्थ लगभग वैसा ही किया है, जैसा कि आचार्य स्कन्द स्वामी ने ॥

(प्रियमेधवत्) प्रिया तृप्ता कमनीया प्रदीप्ता मेधा बुद्धिर्यस्य तेन तुल्यः। (अत्रिवत्) न विद्यन्ते त्रय आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकास्तापा यस्य तद्वत् (जातवेदः) यो

जातेषु पदार्थेषु विद्यते सः (विरूपवत्) विविधानि रूपाणि यस्य तद्वत् (अङ्गिरस्वत्) योऽङ्गानां रसः प्राणस्तद्वत् (महिव्रत) महि महद् व्रतं शीलं यस्य सः (प्रस्कण्वस्य) प्रकृष्टश्चासौ कण्वो मेधावी (श्रुधी) शृणु……। यास्कमुनिरेवमिमं मन्त्रं व्याख्यातवान्…॥ (ऋ० १।४५।३ भा०)॥

यह अर्थ स्कन्दस्वामी के अर्थ के समान ही है। अत्रि का अर्थ कोई ऋषि-विशेष नहीं, अपितु जिस ने रागादि दोषों का नाश कर दिया हो, जिस में ये दोष न रहें। यद्वा जिसके तीनों प्रकार के दुःख न रह जावें वह 'अत्रि'। 'कण्व' किसी ऋषिविशेष(Proper name) का नाम नहीं अपितु मेधावी का नाम है, ऐसा अर्थ दोनों आचार्यों ने किया है॥

निरुक्त के इस स्थल को अन्य प्रकरणों के समान आज कल के प्रायः सभी अध्ययन अध्यापन करने वाले "ऋषिविशेष" अर्थ के रूप में ही पढ़ते-पढ़ाते हैं। उसी का अर्थ स्वामी जी ने "न विद्यन्ते त्रय आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकास्तापा यस्य तद्वत्" अर्थात् जिसके आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक तीनों ताप न रहें वह अत्रि कहलाता है। स्कन्दस्वामी ने इसी 'अत्रि' शब्द का अर्थ "अदनाद् भक्षणाद् रागादीनां दोषाणामत्रिः" अर्थात् जिस ने रागादिदोषों का अदन, भक्षण अर्थात् इनको खा लिया, नष्ट कर दिया हो, जिस के रागादिदोष न रहें, वह "अत्रि" कहलाता है॥

पाठक स्वयं विचारें कि यदि यहाँ 'अत्रि' का अर्थ ऋषिविशेष होता, तो प्रकृतिप्रत्यय का सम्बन्ध दर्शाने की आवश्यकता ही क्या थी। सीधा 'अत्रि नाम का ऋषि' अर्थ कर सकते थे। ऐसा नहीं करने

से स्पष्ट है कि स्कन्दस्वामी इन शब्दों को व्यक्ति-विशेष (Proper names) नहीं मानते ॥

"अत्रि" आदि का जो अर्थ दिखाया है, वह है यौगिकप्रक्रिया की कृपा, जिसका आश्रयण करके आचार्य दयानन्द ने समग्र संसार को उपकृत किया। और देखिये ! स्वामी जी ने निरुक्त का भी वही स्थल उद्धृत किया है जिस में आज कल के विद्वान् कहलाने वालों को इतिहास ही दीखता है। दयानन्द को उसी में इतिहास की गन्ध भी नहीं दीखती। इसी से हम उस महात्मा दयानन्द को ऋषि, प्रत्यग्-दर्शी कहते हैं। इसीसे हम उसको अपनी नौका का लङ्गर मानते हैं ॥

"व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम् ॥"

हम जितना भी दयानन्द का अधिक अध्ययन करेंगे उतना ही अधिक उनको पायेंगे। स्कन्द के अन्य स्थल भी मनोरञ्जक हैं, अतिसंक्षेप से उन्हें भी दे देते हैं—

(२) सर्वे इतिहासाश्चार्थवादमूलभूताः। ते चान्यपरा विधिशेषभूताः। अतस्ताननादृत्य स्वयमविरुद्धं नित्यदर्शनमु-पोद्वलयन्नाह—मेघ इति······तत्र मुख्ययुद्धसम्भवाभावादौप-चारिकी उपमालक्षणार्थेन युद्धवर्णना। किं सादृश्यम् ? सङ्घर्षः। तस्मादसति युद्धे कल्पनैषा, तथा च कल्पितरूपा मन्त्रवर्णा मन्त्रलिङ्गाः ॥ [(स्कन्द नरु० टी० भा० २ पृ० ९३) ॥

अर्थात् "सम्पूर्ण इतिहास अर्थवादमूलक हैं। वे अन्यपरक हैं अर्थात् विधि और प्रतिषेध के शेष भूत हैं, उनका सामान्यरूप से प्रतीयमान स्वार्थ में तात्पर्य नहीं है। इसी से (यास्क ने) इनको आदर न देकर स्वयं वेद से अविपरीत सिद्धान्त को लक्ष्य में रखकर कहा कि नैरुक्तों के पक्ष में वृत्र का अर्थ मेघ है ॥

यहाँ (=वर्षारूपी कर्म में) मुख्य युद्ध की सम्भावना के अभाव में युद्ध की औपचारिक अर्थात् उपमारूप से कल्पना है। उसमें सादृश्य क्या है? सो सङ्घर्ष का होना ही सादृश्य है। इसलिए युद्ध न होते हुए भी यह युद्ध की कल्पना है। इसी प्रकार अन्यत्र जहाँ भी मन्त्रों का वर्णन हो, वहाँ मन्त्र के लिङ्गानुसार कल्पना कर लेनी चाहिए"॥

(३) पूर्वपक्षी ने "त्रित" को भी इतिहास बताया है—प्रकृत मन्त्र निम्न प्रकार है—

सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः। मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यः स्तोतारं ते शतक्रतो वित्तं मे अस्य रोदसी॥

ऋ० १।१०५।८॥

पूर्वपक्षी कहता है कि निरुक्त के इस मन्त्र के व्याख्यान में यास्क ने लिखा है—

त्रितं कूपेऽवहितमेतत् सूक्तं प्रतिबभौ।

स्कन्दस्वामी लिखते हैं—

नित्यपक्षे त्रितो नाम शुक्लशब्दलक्षणः, कर्मपाशैस्त्रिः स्वर्गनरकमर्त्येषु बद्धः कश्चित् क्षेत्रज्ञः। कर्मज्ञानसमुच्चयाभावाद-पवर्गमनाप्नुवन् नरके घटीयन्त्रवद् संघटिते सारे बम्भ्रम्यमाणः परिदेवयाञ्चक्रे। सन्तापयन्ति मां पुनर्मातुरुदरे मग्नमशुचि-प्रस्तरके पुरीषजन्तुजालके यकृल्लोमावष्टम्भादविभक्तोच्छ्वासं बीभत्समानमसृक्पङ्कमध्यशायिनं तमसि निरालोके संवर्त्तमान-मभितो मातुः पर्शव इव तत्रस्थस्य च मूषो न शिश्ना व्यदन्ति

माध्यः सम्यग् दर्शनविषयाः कामा असम्पद्यमानाः । परं समानयोजनम्......॥

(स्कन्द नि० टी० भा० २ पृ० २१०,२११)॥

भाव यह है कि "नित्यपक्ष में त्रित नाम है किसी "क्षेत्रज्ञ" (जीव) का। जो कर्मपाशों के द्वारा स्वर्ग, नरक और मर्त्यलोक इन तीनों में तीनों बार बन्धता है (अर्थात् आता जाता है)। कर्म और ज्ञान के समुच्चय के न होने से मोक्ष को प्राप्त न होता हुआ घटीयन्त्र की भाँति सदैव चलते रहनेवाले संसार में भटकता हुआ दुःखित हुआ अपवित्रता से पूर्ण, मल के आगार, माता के उदर में मग्न हुए यकृल्लोमादि में फँसे, जिसका श्वास भी ठीक अवस्था में नहीं, गर्भ, रक्तरूपी पङ्क में फँसे, घोर अन्धकार में पड़े, मुझको असम्पद्यमान (अपूर्ण) कामनायें मूष (चूहे) की भाँति काटती चली जा रही हैं......इत्यादि आगे पूर्ववत् योजना कर लेनी चाहिए"॥

यहाँ "त्रित" का अर्थ माता के गर्भ में पड़ा जीव, ऐसा स्कन्द-स्वामी करते हैं॥

(४) अब हम इन प्रमाणों को छोड़ते हैं, केवल तत्-तत् शब्द का अतिसंक्षेप से निर्देश करना ही उपयुक्त होगा—

(क) भा० २ पृ० २५२ पर :— "अदितिः" का अर्थ 'प्रकृतिः' किया है॥

(ख) भा० २ पृ० २९४ पर "यम" को आदित्य और "यमी" को रात्रि लिखकर यमयमीसूक्त की सङ्गति लगाई है॥ [1]यमयमीसूक्त

१. ऋषि दयानन्द ने यमयमी सूक्त के पूर्वार्ध का विषय जलविद्या वर्णन माना है। उत्तरार्ध का प्रश्नोत्तर-विद्या। द्रष्टव्य ऋषि दयानन्द कृत 'चतुर्वेद-विषय सूची'। यह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित श्री परोपकारिणी सभा के संग्रह में पड़ा है। यु० मी०

के इस प्रकरण के सम्बन्ध में स्कन्दस्वामी का लेख निम्न प्रकार है—

नित्यपक्षे तु काचिद् ब्राह्मणी पत्यौ प्रव्रजिते कामार्त्ता प्रब्रवीति इति योज्यम् ॥

अर्थात्—नित्यपक्ष में इस यमयमी सूक्त में कोई ब्राह्मणी पति के परिव्राजक होने पर कामार्त्त हुई कहती है—ऐसी योजना कर लेनी चाहिए ॥

यहाँ इतना ध्यान रहे कि यहाँ का पाठ कुछ व्यस्त सा है। हमने मुद्रित पाठ के अनुसार ही लिखा है। अन्य हस्तलेख मिलने पर इस पर और विचार हो सकता है। परन्तु ऊपर भी मंत्र यमयमी का ही है, अतः हमने इसको यहाँ लिखा है। विद्वान् इस पर और विचार करें ॥

(ग) भा० २ पृ० ३४५, ३४६ पर "उर्वशी" का अर्थ "विद्युत्" किया है ॥

(घ) भा० २ पृ० ४२४ पर "कक्षीवन्तं य औशिजः" पर निम्न प्रकार लेख है—

न ऋषिनाम। न चोपमानम्। किं तर्हि ? आत्मनो विशेषणम्। उशिक् शब्दोऽपि मेधाविनाम......उशिजश्च मेधाविनः कण्वस्य पुत्रः ॥

अर्थात्—"कक्षीवान् ऋषि का नाम नहीं, और न ही उपमा है। तो फिर क्या है ? आत्मा का विशेषण है। उशिक् शब्द भी मेधावी का नाम है। उशिग् मेधावी कण्व बुद्धिमान् का पुत्र" ॥

स्कन्दस्वामी के इन सब उदाहरणों से यह स्पष्ट सिद्ध है कि निरुक्त में जो इतिहास है वह सब औपचारिक है, गौण है। अनित्य व्यक्तियों

(proper names) का इतिहास नहीं । यही मत "निरुक्तसमुच्चय" का भी है ॥

दुर्गाचार्य और इतिहास

दुर्ग ने यद्यपि निरुक्त के अनेक स्थलों में ऐतिहासिकपक्ष की पर्यालोचना बहुत उत्तम रीति से की है, परन्तु जिस स्पष्टता से आचार्य स्कन्दस्वामी ने नैरुक्तों की ऐतिहासिक परम्परा को सूर्य के प्रकाश की भाँति व्यक्त कर दिया है, वास्तव में उसको देख कर अब विज्ञ-पाठकों को आचार्य दुर्ग की इतिहास-विषयक धारणा को अवगत करने में कुछ भी कठिनता न होगी। यद्यपि दुर्ग की टीका में बहुत ही उत्तम-उत्तम स्थल विद्यमान थे, परन्तु स्कन्द की निरुक्त टीका के प्रकाशन से पूर्व इतनी प्रबलता से वेद के इतिहास का समाधान विस्पष्ट रीति से नहीं हो सका, इस बात को निरुक्त के पढ़ने पढ़ाने वाले सभी अनुभव करेंगे ॥

हमारे विचार में यहाँ इतना और ध्यान में रहे कि यद्यपि स्कन्द और दुर्ग अपने काल की उन रूढ़ियों से बच नहीं सके, जो उनके काल में वेदार्थ के विषय में प्रचलित थीं (यह बात स्थान स्थान पर इनके मन्त्रार्थ के देखने से ही ज्ञात हो जाती है), परन्तु यह सब होने पर भी हम इतना अवश्य कहेंगे कि इन दोनों आचार्यों के काल तक निरुक्त की परम्परा कुछ सीमा तक उत्तम रीति से चली आ रही थी। मेरे विचार में तो स्कन्द ने १०० में ७५ हमारे समाधान कर दिये हैं। लगभग इतना ही दुर्ग ने भी हमारे लिये निरुक्त की प्रक्रिया का मार्ग कण्टक-रहित कर दिया है। शेष उनकी धारणा को तो हम भी सर्वांश में नहीं मानते। परन्तु इनके इतने महान् उपकार के लिए हमें इनका अतीव कृतज्ञ होना चाहिए ॥

अब सज्जनों के सम्मुख इतिहास विषय की दुर्ग की धारणा रखते हैं—

(क) तत्र एतस्मिन्नर्थे इतिहासमाचक्षते आत्मविदः। इतिवृत्तं परकृत्यर्थवादरूपेण यः कश्चिद् आध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिको वार्थ आख्यायते दिष्ट्युदितार्थविभासनार्थं स इतिहास इत्युच्यते। स पुनरयमितिहासः सर्वप्रकारो हि नित्यमविवक्षितस्वार्थः तदर्थप्रतिपत्तृणामुपदेशपरत्वात्। (निरु० १०।२५ दुर्ग टी० पृ० ७४५ बम्बई संस्करण) ॥

अर्थात्—"यह ऋचा आत्मगति को कहती है। इस 'विश्वकर्मा भौवन' के विषय में आत्मज्ञानी इतिहास बतलाते हैं, परकृति अर्थवाद रूप से इतिवृत्त का व्याख्यान करते हैं। जो कोई भी आध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिक अर्थ (दिष्ट्युदितावभासनार्थं) ज्ञान के उदय (प्रकाश) होने के लिये प्रख्यात किया जाता है, वही इतिहास कहलाता है।

सो यह सब प्रकार का इतिहास निःसंशय नित्य तथा अविवक्षितस्वार्थ होता है अर्थात् अपने मुख्य इतिहासार्थ को नहीं कहता। क्योंकि वह केवल उस अर्थ को जाननेवाले लोगों के लिये केवल उपदेश-परक (उपदेश मात्र) ही होता है (वास्तव में वह कोई इतिहास नहीं होता") ॥

(ख) यथो एतत् पौरुषविधकैर्द्रव्यसंयोगैरिति। एतदपि तादृशमेव औपचारिकं रूपकमात्रमित्यर्थः। यथैव हि आस्यादिकल्पना दृष्टव्यभिचारित्वाद् ग्रावप्रभृतिषु न सम्भवति, रूपकमात्रं स्तुत्यर्थं सङ्कल्पतो वाह्यादिकार्यसिद्धिः। एवं

हरिरथजायादिस्तुतयो रूपकमात्रमिति।··· न चास्यां स्तुतौ यथाभूतार्थत्वोपपत्तिरस्ति, असम्भवात्। कथमसम्भवः? नह्युदकात्मिकाया नद्या वहन्त्या रथेऽवस्थानं सम्भवति··· तदेवमादिष्वसम्भवात् मुख्यार्थकल्पनायाः सर्वत्र रूपकप्रवादाः स्तुतय इत्युपेक्ष्यम्॥ (निरु० ७।७ दुर्ग टी० पृ० ५६९)॥

अर्थात्—"मूल निरुक्त में जो "यथो एतत्-पौरुषविधकैर्द्रव्य-संयोगैः" यह कहा कि पुरुष सदृश अङ्गों से स्तुति की जाती है अतः ये देवता चेतन हैं···यह भी वैसा ही है। अर्थात् औपचारिक रूपक है। जिस प्रकार ग्रावादि में आस्यादि (मुखादि) की कल्पना सम्भव नहीं, अपितु स्तुति के लिये रूपकमात्र होती है, कल्पना से ही बाहु आदि कार्यों की सिद्धि होती हैं, न कि वास्तविक (शृणोत ग्रावाण इत्यादि में)। इसी प्रकार इन्द्र के हरि रथ जायादि की स्तुतियाँ रूपकमात्र हैं वास्तविक नहीं·····इस स्तुति में यथा-भूतार्थ (सचमुच) ऐसा कथन नहीं। क्यों? असम्भव होने से। असम्भव कैसे? जल रूप चलती हुई नदी का रथ में बैठना सम्भव नहीं इत्यादि"।

कितना स्पष्ट लेख है जिस पर कुछ भी टिप्पणी की आवश्यकता नहीं। यहाँ इतना और ध्यान रहे कि महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि ने धातोः कर्मणः समान० (अ० ३।१।७) सूत्र के भाष्य में 'सर्वस्य वा चेतनावत्त्वात्' सारे पदार्थों में चेतनवदुपचार मानकर "शृणोत ग्रावाणः" यह उदाहरण दिया है, इतना ही नहीं, किन्तु 'दामहायनान्तात्' (अ० ४।१।२५) के भाष्य में तो 'अचेतनेष्वपि चेतनवदुपचारः' स्पष्ट ही लिखा है, जिस से यह सब औपचारिक

है, यह स्पष्ट सिद्ध है। इसी प्रकार शन्तनु के राज्य में १२ वर्ष अनावृष्टि भी तो असम्भव ही है। अतः वहाँ भी औपचारिक ही कथन है॥

(ग) तत्रैवं सति आत्मविद आत्मनि त्रित्वनानात्वे गुणीकृत्य तदङ्गप्रत्यङ्गभावेन कल्पयित्वैकमात्मानं पश्यन्ति। तथा नानात्वैकत्वे नैरुक्ता इति त्रित्वे। तथा त्रित्वैकत्वे याज्ञिका नानात्वे एवमेषामविरोधः।

अस्ति हि शब्दार्थयोर्वक्तृप्रतिपत्तृवशेन तद्बुद्ध्यपेक्षयान्वयव्यतिरेकाभ्यां वर्त्तितुं शक्तिः। न तु स्वाभाविकमभिधानाभिधेयसम्बन्धमकृतकमप्रच्यवमानावभिधानाभिधेयौ जहीतः। न ह्यग्नेरवभास्यं प्रत्यवभासनशक्तिरवभास्यस्य चावभास्यमानताशक्तिर्व्यवधानमन्तरेण विहन्यते। नह्यकृतकं स्वयमप्यधीतको विकल्पते वैदिकानां पदवाक्यप्रमाणानाम्॥ आत्मभावानुशयवशेनात्मविन्नैरुक्तयाज्ञिका वेदस्याविपर्यासिनीमप्यध्यात्माधिदेवाधियज्ञविषयनियताम् अर्थाभिधानशक्तिं विपर्यासिनीमिव मन्यमानाः परस्परतो विपर्यस्यन्ते॥ तदेतत्सर्वथापि भेदाभेदवर्त्ति देवतासतत्त्वं यथाग्रहं वक्तृप्रतिपत्तृवशेन प्रख्यातिमुपनयत् स्तुतिरूपकेणात्मनोऽर्थसतत्त्वं तथाभूतं मन्त्रैराविष्क्रियते। तदुक्तं—"तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति" दर्शितञ्चैतन्मन्त्रेण "न त्वं युयुत्से···" इति। निष्ठितरूपत्वेन स्वे स्वे विषयेऽध्यात्मादौ परमार्थतया ऐकात्म्ये निष्ठा तदन्तत्वाद् वाचः। तदुक्तम्···यतो वाचो निवर्तन्ते···॥

(निरु० ७।५ दुर्ग टी० पृ० ५६३)॥

यह समग्र स्थल बड़ा ही उत्तम है। बहुत लम्बा होने से सम्पूर्ण का अर्थ न कर भावमात्र ही लिखा जाता है :—

आध्यात्मिक नैरुक्त-याज्ञिक आदि पक्षों में परस्पर विरोध नहीं। कथन के प्रकार का भेद मात्र है······इन वादों में शब्द और अर्थ की शक्ति वक्ता और प्रतिपत्ता (बोद्धा) के बुद्धिवैशद्य के भेद से भिन्न २ है। स्वाभाविक नित्य अकृतक अभिधानाभिधेय सम्बन्ध को शब्द और अर्थ नहीं छोड़ते। आत्मा के अपने २ भावों के अधीन नैरुक्त-अध्यात्मवादी और याज्ञिकलोग वेद की कभी विपरीत (विरुद्ध) न होनेवाली अध्यात्म-अधिदेव-अधियज्ञविषयक नियमवाली अभिधानशक्ति को (विपर्यासिनीमिव) परस्पर एक दूसरे के विरुद्ध सी होती हुई मानते हुये भिन्न-भिन्न अर्थों का प्रतिपादन करते हैं॥

···········यह सब (यथाग्रह) अपने-अपने ज्ञानानुसार (वक्तृप्रतिपत्तृवशेन) वक्ता और ज्ञाता की विद्याशक्ति के भेद से होती हैं। इसी से यास्क मुनि ने कहा—

तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति।

इसी को मन्त्र बताता है। भिन्न-भिन्न विषयक मन्त्र होते हुये भी परमार्थ से (प्रधानतया) उनकी एक "ब्रह्म" में परिसमाप्ति है। क्योंकि वाणी की परिसमाप्ति भी अन्ततोगत्वा उसी में होती है। जैसा कि उपनिषद् में कहा—"यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" ॥

दुर्ग के ये शब्द ऋषि दयानन्द की वेदसम्बन्धी धारणा को पुकार पुकार कर सर्वांशेन पूर्णरीति से पुष्ट कर रहे हैं। इसको विज्ञ महानुभाव भली प्रकार समझ सकते हैं।

(घ) ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता·····॥

(निरु० १० । १०) ॥

इसकी व्याख्या में दुर्गाचार्य का लेख निम्न प्रकार है—

अतश्च दर्शयति मन्त्राणामैतिहासिकोऽप्यर्थं उपेक्षितव्योऽसावपि तेषां विषयः ॥ (निरु० १० । १० दुर्ग टी० पृ० ७२२) ॥

अर्थात्—यास्क के "ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता" का यही अभिप्राय है कि मन्त्रों का ऐतिहासिक अर्थ भी होता है वह भी उनका विषय होता है। यहाँ 'अपि' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है।

जिन मन्त्रों का ऐतिहासिक अर्थ दर्शाया जाता है, उनका अन्य भी अर्थ है, यह दुर्ग के लेख से स्पष्ट है। दुर्ग के शब्दों में यास्कमुनि को यह अभिमत है कि मन्त्रों का नित्य ऐतिहासिक अर्थ भी होता है।

यहाँ पर इतना ध्यान रहे कि यह सब इतिहास औपमिक है, तथा नित्यपदार्थों का वर्णन गौणतया औपचारिकरूप से वर्णित है, यह दुर्ग का मत है।

दुर्ग के शेष स्थल

अब हम दुर्गाचार्य के भिन्न-भिन्न उपयोगी स्थल अतिसंक्षेप से दर्शाते हैं। जिससे यह भली प्रकार व्यक्त होता है कि वे वेद में अनित्य व्यक्तियों का इतिहास न मान कर वेद के अर्थ को नित्य मानते हुये नित्य इतिहास का ही प्रतिपादन करते हैं—

(क) "सरमा" का अर्थ निरुक्त में देवशुनी = देवताओं की कुतिया लिखा है। निरुक्त का लेख इस प्रकार है—

देवशुनीन्द्रेण प्रहिता पणिभिरसुरैः समूद इत्याख्यानम्।

निरु० ११ । २५ ॥

दुर्ग कहते हैं—

इत्याख्यानविद एवं मन्यन्ते । वाक्पक्षे तु चिरकालीनवृष्टिव्युपरमे कदाचिदभिनवमेघसंप्लवे सहसैव स्तनयित्नुमुपश्रुत्य कुत इयं माध्यमिका वाक् चिरेणागतेति विस्मितस्तामसूयन्निव ब्रवीति......किमिच्छन्ती सरमा......

(ऋ० १०।१०८।१ निरु० ११।२५ दुर्ग टी० पृ० ७१५)

यहाँ 'सरमा का अर्थ मध्यमस्थानी वाक् किया है।

(ख) युद्धवर्णा भवन्ति । युद्धे रूपकाणीत्यर्थः । नह्यत्र यथाभूतं युद्धमस्ति । नहीन्द्रस्य शत्रवः केचन सन्ति ॥

(निरु० २।१६ दुर्ग टी० पृ० १४५) ॥

(ग) निरुक्तपक्षे ऋष्टिषेणो मध्यमः···शन्तनवे सर्वस्मै यजमानाय ॥ (निरु० २।१२ दुर्ग टी० पृ० १३४) ॥

(घ) मन्त्रार्थपरिज्ञानादेव ह्यग्नेरध्यात्माधिदैवाधिभूताधियज्ञेष्ववस्थानं याथात्म्यतो दृश्यते ॥

(निरु० ४।१९ दुर्गटी० पृ० ३१५)

(ङ) पृ० ३९५—उर्वशी का अर्थ विद्युत पूर्ववत् किया गया है।" (निरु० ५।१३, दुर्ग टी० पृ० ३९५) ॥

(च) कोऽयमग्निः ।······आत्मा इत्यात्मविदः ।······अविवक्षितस्थानविशेषो निर्ज्ञातैतदभिधानो देवताविशेषो लोकवेदप्रसिद्धः कर्माङ्गमिति याज्ञिकाः । विवक्षितविशिष्टस्थानकर्मा मध्यमोत्तमाभ्यां ज्योतिर्भ्यामन्यः पार्थिवोऽयमग्निरिति नैरुक्त-

समयः········आत्मवित्पक्षे तु सर्वमभिधानमात्मार्थमेवेति सर्वावस्थं·····विभूतिताद्भाव्यमनुभवतीति सर्वपदव्युत्पत्ति-प्रयोजनम् ॥ (निरु० ७।१४ दुर्ग टी० पृ० ५९०, ५९१) ॥

अर्थात्—"अग्नि कौन है ? आत्मविदों के मत में "अग्नि" का अर्थ है आत्मा। याज्ञिकों के मत में "अग्नि" यज्ञकर्म का अङ्गभूत है। नैरुक्तों के मत में उसको पार्थिव अग्नि कहा गया है। अध्यात्मपक्ष में तो यह सब कुछ कथन-उपकथनादि आत्मा के लिये ही है। सब में स्थित हुई "आत्मा की विभूति को अनुभव करता है, सब पदों की व्युत्पत्ति का यही प्रयोजन है।"

दूसरे शब्दों में "अग्नि" आदि शब्दों की प्रकृतिप्रत्यय की विविध कल्पना द्वारा व्युत्पत्ति—निर्वचन, जो यास्क ने दिखाया है और जो इस ग्रन्थ का मुख्य ध्येय है, वह इन "अग्नि" आदि शब्दों से एक "आत्मा" का अर्थ संघटित करने के लिये ही है॥

यहाँ पर कुछ अविवेकी लोग—व्याकरण तथा निरुक्त की प्रक्रिया को न समझते हुए, 'अग्नि" शब्द की व्युत्पत्ति—

अग्निः कस्माद् ? अग्रणीर्भवति। अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते। अङ्गं नयति सन्नममानः। अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः। न क्नोपयति न स्नेहयति॥···इतादक्ताद् दग्धाद्वा नीतात्।···

निरु० ७।१४॥

इत्यादि

इत्यादि यास्क के लेख पर कहते हैं कि यास्क को स्वयं निश्चय नहीं था कि कौन से धातु से अर्थ करूँ। सन्देह में अनेक धातु गिना दिये।

दुर्ग इस का उत्तर देता है—

सर्वमभिधानमात्मार्थमेवेति ..."सर्वावस्थं विभूतितादूभाव्यमनुभवतीति सर्वपदव्युत्पत्तिप्रयोजनम् ॥ (दुर्ग टी० पृ० ५९१)।

अर्थात्—"सब पदों की व्युत्पत्ति वा निवर्चन करना सब अभिधान (कथन) को एक आत्मा में संघटित करने के लिये होता है"।

यही तो यौगिकप्रक्रिया है। नैरुक्त परम्परा के जाननेवाले आचार्य इसको कितना महत्त्व देते चले आ रहे हैं। इसी को आधार बना कर ऋषि दयानन्द ने तमआच्छादित वेदार्थ को संसार के आगे रखा। इसके विना और कोई प्रक्रिया हो ही नहीं सकती जिससे वेदत्व सिद्ध हो सके। सम्पूर्ण निरुक्त इस प्रक्रिया को आधार बना कर ही प्रवृत्त हुआ है, यह हम पूर्व दर्शा चुके हैं॥

(छ) विश्वानरविद्यायां तावत् "आत्मा इत्यात्मविदः, इन्द्रादित्य-वाय्वाकाशोदकपृथिव्यादयश्च पृथक् पृथगेव वैश्वानरत्वेन विज्ञायन्ते ॥ (निरु० ७।२२ दुर्ग टी० ६०३)॥

अर्थात्—विश्वानर आत्मवादियों के मत में आत्मा है—इन्द्र, आदित्य, वायु, आकाश, उदक, पृथिवी आदि पृथक्-पृथक् वैश्वानर रूप से जाने जाते हैं (ब्राह्मणादि ग्रन्थों में)॥

(ज) भक्तिमात्रं भवति तद्गुणतः संवादो दुर्बला हि समाख्या ॥ (निरु० ८।२ दुर्ग टी० पृ० ६३२)॥

(झ) आत्मस्तुतिरेवेयं सर्वा ॥

(निरु० ९।११, दुर्ग टी० पृ० ६७६)॥

त्रित्वपक्षे तु माध्यमिको यमो माध्यमिकां वाचम् ॥

(निरु० ११।३४ दुर्ग टी० पृ० ८०४)॥

ऐतिहासिकपक्षाभिप्रायोऽयमर्थवादः ॥

(निरु० १२।१४, दुर्ग टी० पृ० ८३५) ॥

(पृ० २११) ॥

रश्मयो वै विश्वेदेवाः ॥

इत्यादि दुर्ग के इतने स्थल हैं कि हम सबको उद्धृत नहीं कर सकते। अन्त में एक विशेष उद्धरण देकर दुर्ग का विषय समाप्त करते हैं—

वेदार्थ में दुर्ग की धारणा

वेदार्थ में दुर्ग की धारणा क्या है इसका दिग्दर्शन निम्न लेख से भली भाँति हो जाता है—

(क) तत्रैवं सति प्रतिविनियोगमस्यान्येनार्थेन भवितव्यम्। न त एते वक्तुरभिप्रायवशादन्यत्वमपि भजन्ते मन्त्राः। न ह्येतेषु अर्थस्येयत्तावधारणमस्ति। महार्था ह्येते दुष्परिज्ञानाश्च। यथाऽश्वारोहवैशिष्ट्यादश्वः साधुः साधुतरश्च वहति, एवमेते वक्तृवैशिष्ट्यात् साधून् साधुतरांश्चार्थान् स्रवन्ति।

तत्रैवं सति लक्षणोद्देशमात्रमेवैतस्मिञ्छास्त्रे निर्वचनमेकैकस्य क्रियते। क्वचिच्चाध्यात्माधिदैवाधियज्ञोपदर्शनार्थम्।

तस्मादेतेषु यावन्तोऽर्था उपपद्येरन् अधिदैवाध्यात्माधियज्ञाश्रयाः सर्व एव ते योज्याः। नात्रापराधोऽस्ति ॥

(निरु० २।८, दुर्ग टी० पृ० १२६) ॥

(ख) ईदृशेषु शब्दार्थन्यायसङ्कटेषु मन्त्रार्थघटनेषु दुरवबोधेषु मतिमतां मतयो न प्रतिहन्यन्ते, वयं त्वेतावदत्रावबुध्यामहे ॥

(निरु० ७।३१, दुर्ग टी० पृ० ६२४) ॥

(क) अर्थात्—"ऐसी अवस्था में विनियोग के भेद से इस का भिन्न-भिन्न अर्थ होगा। सो ये मन्त्र वक्ता के अभिप्रायभेद से भिन्नता को भी प्राप्त हो जाते हैं, अतः इस से घबराने की कोई बात नहीं ॥"

"इन मन्त्रों का बस इतना ही अर्थ है, इसकी कैद नहीं लगाई जा सकती, मन्त्र महान् अर्थ वाले होते हैं, अत्यन्त ही दुष्परिज्ञान अर्थात् बड़े ही परिश्रम-विद्या-योगादि की शक्ति से जाने जा सकते हैं। जैसे सवार सवार के भेद से एक ही घोड़ा अच्छा और अतीव अच्छा चलने लगता है, उसी प्रकार वक्ता जितना अधिक योग्य और तपस्वी होगा, उसको मन्त्रों में उतने ही अधिक गम्भीर और गम्भीरतर अर्थों का प्रकाश होगा" ॥

आज कल के वेदभाष्यकार इससे बहुत कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। क्योंकि स्वयं यास्क ने भी तो कहा है—

न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा, पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति······॥ (निरु० १३।१२) ॥

"इस प्रकार निरुक्तशास्त्र में लक्षणोद्देशमात्र (लक्षणों को दर्शाने के लिये संकेतमात्र) ही एक-एक शब्द का निर्वचन दिखाया गया है। कहीं कहीं आध्यात्मिक-आधिदैविक-आधियज्ञ-अर्थों का बोध कराने के लिये शब्दों का निर्वचन दिखाया है।"

"अतः इन मन्त्रों में जितने भी अर्थ उपपन्न (युक्त) हो सकें, चाहे वे आध्यात्मिक, अधियज्ञ वा आधिदैविक हों, उन सब की योजना कर लेनी चाहिये। इसमें किसी प्रकार का भी दोष नहीं।"

(ख) "इस प्रकार शब्दार्थ के निर्णय में सङ्कट परस्थित होने पर जहाँ पर भी मन्त्रों के दुरवबोध अर्थों को यथावत् घटाना होता है, वहाँ बड़े बड़े बुद्धिमानों की ही बुद्धियाँ प्रतिहत नहीं होतीं—नहीं रुकतीं—हम तो यहाँ पर इतना ही समझ सके हैं।"

इस ऊपर के लेख से दुर्ग का वेदार्थ सम्बन्धी हार्दिकभाव इतना
स्पष्ट है कि इस पर कुछ भी लिखने की आवश्यकता नहीं। ऐसा
प्रतीत होने लगता है, जैसे स्वयं ऋषि दयानन्द ही बोल रहे हों।
एक एक शब्द में ऋषि दयानन्द की वेदार्थ-प्रक्रिया की पुष्टि हो
रही है॥

हजारों ग्रन्थों को पढ़कर लगभग तीन ३ हजार ग्रन्थों को प्रामाणिक
मानने वाले दयानन्द[1] की अगाधबुद्धि का परिचय हम साधारण
बुद्धिवालों को तभी होता है, जब हम भारतीयों को उनकी धारणा के
सम्बन्ध में उन से पूर्वाचार्यों का कोई प्रमाण मिल जाता है।
हम लोगों की अपनी कोई स्वतन्त्र बुद्धि नहीं, अपितु हमने अपनी
बुद्धि को इन लोगों के हाथ वेच सा दिया है। "गतानुगतिको
लोकः, न लोकः पारमार्थिकः"। दयानन्द में यह बात नहीं थी।
उनकी हरएक धारणा शास्त्र, प्रमाण तथा तर्क के आधार पर थी॥
उनकी कोई भी धारणा निराधार नहीं थी। और जितना जितना
हम अधिक प्राचीन ग्रन्थों की खोज करेंगे, उसकी अधिक से अधिक
पुष्टि पावेंगे॥

क्या अब मूल निरुक्त के प्रमाणों से यास्क के नित्य इतिहास का
स्वरूप सूर्य की भाँति स्पष्ट नहीं? उसके पीछे 'आचार्य वररुचि' के
"निरुक्तसमुच्चय" से वही बात स्पष्ट नहीं होती? क्या नैरुक्तों की परम्परा
जिसे आचार्य स्कन्दस्वामी और दुर्ग ने दिखाया, उससे इस बात
के मानने में यत्किञ्चित् भी सन्देह का स्थान रह जाता है?

१. ऋषिदयानन्द ने भ्रमोच्छेदन ग्रन्थ में 'तीन सहस्र' ग्रन्थों को
प्रमाणभूत माना है। तीन सहस्र प्रमाणभूत ग्रन्थों को छाँटने के लिए दयानन्द
ने कितने सहस्र ग्रन्थ पढ़े होंगे यह पाठक स्वयं अनुमान लगा सकते हैं।
यु० मी०

हम समझते हैं "निरुक्तकार वेद में अनित्य इतिहास मानता है" इस वाद की अन्त्येष्टि ही कर देनी चाहिये ॥

शेष रह जाता है निरुक्त के सब ऐतिहासिक स्थलों की पर्यालोचना का क्या किया जाये। मेरे पास इतना समय नहीं, तथापि इस विषय के कुछ स्थल अवकाश मिलने पर विद्वानों की सेवा में विस्तार से उपस्थित करने का पूरा यत्न किया जायगा।

यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि प्रभु की कृपा से उन स्थलों पर बहुत कुछ विचार किया जा चुका है। उनके पक्षपातरहित पूर्ण समाधान होने में मुझे कुछ भी सन्देह नहीं। परन्तु यह समझा तभी जायगा, जब यह कार्य विद्वानों की सेवा में उपस्थित होगा क्योंकि यह कार्य बहुत समय तथा परिश्रमापेक्षित है ॥

वेद में इतिहास तथा अन्य आचार्य

नैरुक्तों की परम्परा के अनुसार इतिहास का स्वरूप हमने ऊपर दिखाया। अब इस विषय में अन्य आचार्यों को क्या अभिमत है यह भी दर्शा देना अनुपयुक्त न होगा। यह विदित रहे कि सायण से अतिरिक्त विविध खोज द्वारा लगभग ५० वेदभाष्यकारों का निश्चितरूपेण पता इस समय तक लगता है जिसका पूरा विवरण "वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १ खण्ड २" (वेदों के भाष्यकार नामक) में विस्तार से मिलेगा। जितने वेदभाष्यकारों का अब तक पता लग रहा है, अथवा जितने वेदभाष्य अब तक मिल रहे हैं, इनका इस में विस्तृत वर्णन है।

इन पूर्वोक्त ५० वेदभाष्यकारों के सभी भाष्य तो मिलते नहीं, हाँ लगभग १० पूर्ण तथा अपूर्ण भाष्य अभी तक मिले हैं। इन सब के उदाहरण हम इस समय कुछ कारणों से उपस्थित नहीं कर रहे हैं, कालान्तर में हम उपस्थित करेंगे ॥

जितने पूर्ण तथा अपूर्ण भाष्य अभी तक मिलते हैं। उनमें से प्रकृत विषय में कुछ एक स्थल विद्वानों के मनोरञ्जनार्थ प्रस्तुत किये जाते हैं—

(१) उद्गीथ—इस आचार्य ने स्कन्द स्वामी तथा नारायण के साथ मिलकर ऋग्वेद का भाष्य किया है।[१] पूर्व भाग पर उन दोनों का भाष्य है। अन्तिम दशम मण्डल पर उद्गीथ का भाष्य मिलता है, जिसके कुछ पृष्ठों का सम्पादन श्री० पं० भगवद्दत्त जी ने किया है—

विश्वकर्मा विमना आद् विहाया,
धाता विधाता परमोत सन्दृक्।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति,
यत्रा सप्त ऋषीन् पर एकमाहुः॥
(ऋ० १०।८२।२)

इस मन्त्र के भाष्य में उद्गीथाचार्य लिखता है—

यस्मिन् आदित्यमण्डले सप्त ऋषीन् ऋषिर्दर्शनात्, प्रथमार्थे वात्र द्वितीया (व्यत्ययः) सप्तसंख्याकाः सर्पणशीला वा सर्वार्थान् द्रष्टारो रश्मयः स्थिताः।

परश्चोत्तरपुरुषो मण्डलस्याधिष्ठितस्तत्रेत्यर्थः। तच्चैतत् सर्वमुदकमण्डले रश्मीनधिष्ठातारश्च विश्वकर्माणमेवैकमाहुर्वदन्ति तत्त्वविदस्तस्य सर्वात्मकत्वात्॥ (ऋ० १०।८२।२ उद्गीथभाष्य)

---

१. सायण के अतिरिक्त उद्गीथ स्कन्द वेङ्कट माधव और मुद्गल कृत वेदभाष्य के जितने अंश उपलब्ध हुए हैं उन सबका मुद्रण अभी-अभी विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर से कई भागों में प्रकाशित हुआ है। यु० मी०

अर्थात्—यहाँ मन्त्र में आये हुए सप्त ऋषि का अर्थ उद्गीथ ने रश्मिपरक किया है ॥

(२) अस्यवामीयसूक्त—आत्मानन्दकृत

यह भाष्यकार भी आध्यात्मिकप्रक्रिया से मन्त्रों का स्थल-स्थल पर अच्छा अर्थ करता है, इसमें—

(क) अहं जीवात्मा हिरण्यस्तूपाख्यः । पृ० २९

यहाँ हिरण्यस्तूप का अर्थ जीवात्मा किया है ।

(ख) अश्विभ्यां गुरुशिष्याभ्याम् । पृ० ३६

अश्विनौ का अर्थ गुरुशिष्य किया है। कैसा मनोहर सुन्दर अर्थ है। यहाँ पर यह बात बहुत ही ध्यान देने योग्य है कि ऋषि दयानन्द ने अपने भाष्य में अनेक स्थलों पर "अश्विनौ" का अर्थ "अध्यापकोपदेशकौ" किया है—

परन्तु स्वामी दयानन्द के इस अर्थ का मखौल उड़ाने वालों को याद रखना चाहिये कि पारदर्शी दयानन्द ने असत्य वा मिथ्या कल्पना द्वारा कोई बात भी नहीं लिखी । यह दूसरी बात है कि उनके पीछे आर्यसमाज ने उनके प्रत्येक विचार की प्रामाणिकता को दर्शाने में यथेष्ट यत्न न किया हो ॥

(ग) सोमो जगदीश्वरो जीवमनःप्रेरकः । पृ० ४४

सोम का अर्थ जीव के मन का प्रेरक जगदीश्वर है ।

(घ) ऋषयः प्राणाः । पृ० १८

ऋषि का अर्थ प्राण किया है ।

(ङ) एकैव देवता परमात्मा । पृ० ५४

वेद के मन्त्रों का देवता (प्रतिपाद्य विषय) एक परमात्मा ही है ।

(च) पुत्रा अवयवा अंशाः । पृ० १४

यहाँ पुत्र का अर्थ अवयव वा अंश किया है ।

(छ) सप्त महदादयो जगत्प्रकृतयः पुत्राः कार्य्यभूता विकृतयो यस्य । पृ० ५,६

यहाँ पुत्र का अर्थ विकार किया है ।

(ज) परमार्थतस्तु सर्वत्र ब्रह्मपरत्वाद् ब्रह्मैव प्रतिपादयन्ति वेदाः । पृ० १०

अर्थात्—सब मन्त्रों के ब्रह्मपरक होने से सब वेद ब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हैं ।

(झ) सर्वोऽपि वेदो ब्रह्मपरः । पृ० ७

सम्पूर्ण वेद ब्रह्मपरक है ।

(३) शङ्कराचार्य रुद्रभाष्य—

एतानि शतरुद्रीयाम्नातान्यमृतस्य नित्यमुक्तस्य परमेश्वरस्य नामधेयानीत्यर्थः । पृ० ३

(४) एकाग्निकाण्डे हरदत्तः—

उशिजः, मेधाविनामैतत् । तत्रेतिहासमाचक्षते ।। पृ० ११६

मध्यमस्थानो रुद्रो वर्षिता इति नैरुक्ताः । जगदुत्पादने स्ववीर्यस्य सेक्तेति पौराणिकाः । तस्मै मीढुषी मध्यमस्थाना वाक् । रुद्रस्य पत्नीति नैरुक्ताः । जगत्प्रतिकृतिरूपेति पौराणिकाः ।। पृ० १७२

शबरस्वामी-कुमारिलभट्ट
तथा
वेद में इतिहास

अब अन्त में हम मीमांसा के आचार्यों का मत भी इस विषय में दर्शाते हैं, जिससे यह ज्ञात हो जायगा कि इनके काल तक फिर भी वेदार्थ की प्रक्रिया कुछ अच्छे रूप में परम्परा द्वारा जीवित रही। वास्तविक वेदार्थ का काल तो इन आचार्यों से भी बहुत पूर्व ही रहा है। इसमें शङ्कराचार्यका वेदार्थप्रक्रिया पर कुछ न लिखना ही स्पष्ट प्रमाण है। इन उपर्युक्त आचार्यों के प्रत्येक सिद्धान्त को हम सर्वांशतः ही मानते हैं, यह आवश्यक नहीं। प्रकृत 'वेद में इतिहास' विषय पर इनके विचार दिखाना मात्र ही हमारे इस प्रकरण का प्रयोजन है ॥

शबरस्वामी

(क) असद्वृत्तान्तान्वाख्यानं स्तुत्यर्थेन, प्रशंसाया गम्यमानत्वात् ।

(ख) वृत्तान्तान्वाख्यानेऽपि विधीयमाने आदिमत्ता-दोषो वेदस्य प्रसज्येत ? ......(उ०) नित्यः कश्चिदर्थः प्रजापतिः स्यात्, वायुः, आकाशः, आदित्यो वा ।

मीमांसाभाष्ये १।२।१० पृ० १२५, १२६ ॥

अर्थात्—असद्वृत्तान्त (जो हुआ नहीं, अर्थात् कल्पित) का अन्वाख्यान स्तुति द्वारा प्रशंसा के अभिप्राय से होता है। सइ पर आगे पूर्वपक्ष उठा कर कहते हैं—

यदि कहो कि इससे तो वेद की आदिमत्ता (अनादि न होना रूप) दोष होने लगेगा। तब उस पर कहते हैं कि प्रजापति आदि कोई अनित्य व्यक्तियाँ नहीं, अपितु ये सब नित्य पदार्थ ही हैं॥

अर्थात् इनका अन्वाख्यान इतिहासादि रूप से कथन करना गौण ही है॥

(२) ननूक्तमसंवादो वेदे······गुणवादेन प्ररोचनार्थतां ब्रूमहे। गौणत्वात् संवादः। किं सादृश्यम्? यथान्नं प्रीतेः साधनमेवमिदमपि प्रीतिसाधनशक्तियुक्तं प्रशंसितुं प्रशंसावाचिना प्रीतिसाधनशब्देनोच्यते॥ मी० भा० १।२।२२ पृ० १३६॥

अर्थात्—"वेद में जो संवाद कहा जाता है वह गुणवाद से प्ररोचना के लिए है, ऐसा हम समझते हैं। संवाद गौणता से है।······ जिस प्रकार अन्न प्रीति (सन्तुष्टि) का साधन होता है, इसी प्रकार यह संवाद भी प्रीति के साधनों की शक्ति से युक्त (पदार्थ) की प्रशंसा के निमित्त प्रशंसावाची, प्रीति के साधन, शब्दों द्वारा कहा जाता है॥"

वेद में संवाद प्ररोचनार्थ, गौण होता है। इतना यहाँ अभिप्रेत है॥

(३) वृत्तान्तान्वाख्यानं न वृत्तान्तज्ञापनाय। किं तर्हि? प्ररोचनायैव॥ मी० भा० १।२।३० पृ० १४३॥

(४) नदीति नद्याः स्तुतिः। यज्ञसमृद्धये साधनानां चेतनसादृश्यमुपपादयितुकाम आमन्त्रणशब्देन लक्षयति। 'ओषधे त्रायस्वैनम्' इति। 'शृणोत ग्रावाण' इति।···यत्राचेतनाः सन्तो ग्रावाणोऽपि शृणुयुः, किं पुनर्विद्वांसोऽपि ब्राह्मणा इति॥

पृ० १५५, १५६॥

अर्थात् वेद में चेतनों के सादृश्य से अचेतनों में चेतनावद् व्यवहार होता है। सम्बोधन आमन्त्रण आदि होने से यह न समझ लेना चाहिये कि ये चेतन ही हो गये ॥

इस विषय में महाभाष्यकार पतञ्जलि का 'हेतुमति च' तथा धातोः कर्मणः० (३।१।७) सूत्र के भाष्य में 'अचेतनेष्वपि चेतनवदुपचारः। ऋषिः पठति, शृणोत ग्रावाणः। पिपतिषति कूलम्' लेख भी द्रष्टव्य है। यह पूर्व भी लिखा जा चुका है ॥

कुमारिल भट्ट

(१) यथैव च व्याकरणेन नित्यपदान्वाख्याने क्रियमाणे लोपविकारादीनामुपायत्वेनोपादानम्, अव्युत्पन्नाश्च तैरेव पदोत्पादनमिव मन्यन्ते। तथाऽत्र नित्यवाक्यार्थप्रतिपत्तौ आर्षोपाख्यानमनित्यवदाभासमानं उपायत्वं प्रतिपद्यते। तत्र यथा कश्चिद् व्याचक्षाणः पदतदवयवादीनां चेतनत्वमिवाध्यस्य विशेषबाधादिव्यापारं निरूपयत्येतेनैवमुक्तोऽयमेवं प्रत्याहेति। यथा च पूर्वपक्षोत्तरपक्षवादिनौ व्यवहारार्थं कल्पितावेवमृष्यार्षेयविषया कल्पना। मीमांसा १।२।४१ तन्त्रवार्त्तिक पृ० १५६, १५७ आनन्दाश्रम संस्करण

भाव यह है कि नित्यवाक्यार्थ के ज्ञान में ऋषियों सम्बन्धी उपाख्यान (कथा संवादादि) अनित्य जैसा प्रतीत होता है। अनित्यवदाभासमानं—अर्थात् वह होता तो नित्य है परन्तु अनित्य सा प्रतीत होता है। उसमें जैसे कोई व्याख्यान करता हुआ किन्हीं पदों तथा उनके अवयवों को चेतन के सदृश अध्यास (अध्यारोप)

करता हुआ तद्विषयक वधादि का निरूपण करता है, उनके परस्पर संवाद का वर्णन करता है, इसी प्रकार ऋषि तथा तत्सम्बन्धी आर्षेय (उपाख्यानादि) की कल्पना की जाती है ॥

अर्थात्—यह उपाख्यानादि कल्पित ही होते हैं, न कि वास्तविक ॥

(२) एकेन प्रयत्नेनापिबत् साकं यौगपद्येन, सरांसि पात्राणि सोमस्य पूर्णानि, इन्द्रः काणुका कामयमानः, कामुक-शब्दस्य छान्दसो वर्णव्यत्ययः। आकारस्तु विभक्त्यादेशः। अथवा कान्तकानीत्यादयो निरुक्तोक्ताः काणुकाशब्दविकल्पा योजनीयाः ॥

तदेवं सर्वत्र केनचित् प्रकारेणाभियुक्तानामर्थोत्प्रेक्षोपपत्तेः प्रसिद्धतरार्थाभावेऽपि वेदस्य तदभ्युपगमात् सिद्धमर्थवत्त्वम् ॥

मी० १।२।४१, तन्त्रवार्तिक पृ० १५८ ॥

अर्थात्—काणुका आदि शब्द कान्तकादि अर्थों के बोधक हैं न कि कोई व्यक्तिविशेष। निरुक्त की इस यौगिकप्रक्रिया के आधार पर वेद के अप्रसिद्ध शब्दों के अर्थ की योजना भी कर लेनी चाहिये।

(३) कीकटा नाम यद्यपि जनपदाः। तथापि नित्याः। अथवा सर्वलोकस्थाः कृपणाः कीकटाः…।

मी० १।२।४२, तन्त्रवार्त्तिक पृ० १५८ ॥

कीकटा का अर्थ पक्ष में 'कृपणाः' ऐसा दर्शाते हैं ॥

(४) यत्तु प्रजापतिरुषसमभ्यैत् स्वां दुहितरम्, अहल्यायां मैत्रेय्यां इन्द्रो जार आसीदित्येवमादिदर्शनादितिहासदर्शनाच्च

शिष्टाचारेषु धर्मातिक्रमं पश्यद्भिः शिष्टाचारप्रामाण्यं दुरध्यवसानमिति । तत्रोच्यते.........प्रजापतिस्तावत् प्रजापालनाधिकारादादित्य एवोच्यते । स चारुणोदयवेलायामुपसमुद्यन्नभ्यैत्, सा तदागमनादेवोपजायत इति तद्दुहितृत्वेन व्यपदिश्यते, तस्यां चारुणकिरणाख्यबीजनिक्षेपात् स्त्रीपुरुषयोगवदुपचारः । एवं समस्ततेजाः परमैश्वर्यनिमित्तेन्द्रशब्दवाच्यः सवितैवाहनि लीयमानतया रात्रेरहल्याशब्दवाच्यायाः क्षयात्मकजरणहेतुत्वाज् जीर्यत्यस्मादनेनेवोदितेनेत्यादित्य एवाहल्याजार इत्युच्यते न तु परस्त्रीव्यभिचारात् ॥

मी० १।३।७ तन्त्रवार्तिक पृ० २०७, २०८ ॥

अभिप्राय इतना ही है कि प्रजापति नाम है आदित्य का और अहल्या नाम है रात्रि का, उस की दुहिता है उषा। जीर्ण करने से जार नाम है आदित्य का। कुमारिल भट्ट भी इन कथाओं को औपचारिक मानते हैं, यही दिखाना यहाँ हमको अभिप्रेत है ॥

(५) तस्माद्ये याज्ञिकैर्येषां वैद्यैर्वार्था निरूपिताः ।
तेषां त एव शब्दानामर्था मुख्या हि नेतरे ॥

मी० १।३।९ तन्त्रवार्त्तिक पृ० २१७ ॥

मन्त्रों के अर्थ याज्ञिकप्रक्रिया तथा वैद्यक की रीति से भी होते हैं ॥

(६) अर्थवादकृतात्यर्थप्रतिपत्तिर्बलीयसी ।
तद्ग्राह्यत्वादृते नान्यत्तस्या ह्यस्ति प्रयोजनम् ॥

मी० १।३।९ तन्त्रवार्त्तिक पृ० २२३ ॥

अर्थवाद से भी अर्थ की प्रतिपत्ति होती है। अर्थ को ग्रहण कराना ही उसका प्रयोजन होता है।

(७) गौणं लाक्षणिकं वापि वाक्यभेदेन वा स्वयम्।
वेदोऽयमाश्रयत्यर्थं को नु तं प्रतिकूलयेत्॥
मी० १।३।९ तन्त्रवार्त्तिक पृ० २२३॥

वेद का अर्थ गौण तथा लाक्षणिक वाक्यभेद से होता है। उसको कोई अन्यथा नहीं कर सकता॥

(८) अनन्तेषु हि देशेषु कः सिद्धः क्वेति गम्यताम्।
निगमादिवशाच्चाद्य धातुतोऽर्थः प्रकल्पितः॥
मी० १।३।१० तन्त्रवार्त्तिक पृ० २२५॥

वेदार्थ में धातु से अर्थ की योजना करनी ही पड़ेगी॥

कुमारिल के इन अनेक उदाहरणों से स्पष्ट है कि वह इन उपाख्यान, इतिहासादि को औपचारिक मानते हैं।

आयुर्वेद की प्रक्रिया से मन्त्रों के अर्थ की क्या व्यवस्था है, उसे उपस्थित करते हैं—

वैद्यकशास्त्र और इतिहास

हम पूर्व (पृष्ठ ५०) कुमारिल भट्ट के तन्त्रवा० पृ० २१७ का लेख दर्शा चुके हैं—

तस्माद्ये याज्ञिकैर्येषां वैद्यैर्वार्था निरूपिताः।
तेषां त एव शब्दानामर्था मुख्या हि नेतरे॥

अर्थात्—वैद्यक की प्रक्रिया से भी वेद मन्त्रों के अर्थ होते हैं। सो इस विषय में मैं विद्वानों के मनोरञ्जनार्थ एक विचार उपस्थित करता हूँ—

देखिये वैद्यक शास्त्र में सुश्रुत सूत्रस्थान अध्याय ५ में जहाँ भिन्न-भिन्न देवताओं का वर्णन किया गया है, लिखा है—

एता देहे विशेषेण तव नित्या हि देवताः ।
एतास्त्वां सततं पान्तु दीर्घमायुरवाप्नुहि ॥२५॥

इस की टीका में निम्न लेख है—

यस्त्विन्द्रो लोके पुरुषेऽहङ्कारः सः ।··· रुद्रो रोषः, सोमः प्रसादः, वसवः सुखम् , अश्विनौ कान्तिः, मरुदुत्साहः, तमो मोहः, ज्योतिर्ज्ञानम्······॥

अर्थात्—लोक में जो इन्द्र है—वह पुरुष में अहङ्कार है। रोष रुद्र है। सोम नाम है प्रसाद का, प्रसन्नता का। वसवः सुख का नाम है। कान्ति का नाम अश्विनौ है। उत्साह का नाम मरुत् है। मोह तम है। ज्ञान ही ज्योति है। इत्यादि।

इससे भी स्पष्ट है कि—इन्द्र, रुद्र, अश्विनौ आदि व्यक्तिविशेषों के नाम नहीं, अपितु शरीर में भिन्न-भिन्न शक्तियाँ हैं।

वैदिक गाड्ज़ (Vedic Gods) और इतिहास

इस नाम की एक पुस्तक अंग्रेजी भाषा में कलकत्ता से प्रकाशित हुई है, जिसके लेखक श्री रेले महाशय हैं। उन्होंने वेदों के मन्त्रों को लेकर उन से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि अश्विनौ मरुत् आदि शरीर सम्बन्धी भिन्न-भिन्न शक्तियाँ तथा नाड़ी आदि अवयव हैं जो भिन्न-भिन्न कार्य करती हैं। सज्जनों के विनोदार्थ हम उस के कुछ विचार उपस्थित करते हैं—

उक्त ग्रन्थ में क्रमशः लगभग २० देवताओं पर विचार किया गया है—१. त्वष्टा २. ऋभवः ३. सविता ४. अश्विनौ ५. मरुत् ६. पर्जन्यः ७. उषा ८. विष्णु ९. रुद्र १०. पूषा ११. सूर्य १२. अग्नि

१३. इन्द्र १४. आदित्य १५. बृहस्पति १६. सोम १७. वरुण १८. मित्र १९. आपः ॥

ग्रन्थकार ने इन देवताओं को शरीर में ही घटाने का प्रयास किया है। केवल कल्पनामात्र से नहीं, अपितु तत्तद् विषय में ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों के प्रमाण भी दिये हैं, जिनसे लेखक की वेदविषय में अच्छी योग्यता प्रतीत होती है। उस में विभिन्न देवताओं का स्वरूप इस प्रकार दिया है—

पृ० ७८—पूषा को सैरीबैलम् (छोटा दिमाग)
" ९५—इन्द्र को सैरीब्रम (बड़ा दिमाग)
" ५४—मरुतः को क्रेनियल नर्व्ज (दिमाग की नाड़ियाँ—तन्तु)
" ५८—पर्जन्य को Reflex Activity बाह्य संस्कारों से प्रतिबिम्बित प्रेरणा
पृ० ६२—उषा को वेगस नर्व्ज (हृद् और श्वास प्रश्वास का केन्द्र)
" ६३—विष्णु को स्पाइनल कार्ड (रीढ़ की अन्दर की सुषुम्णा)
" ७५—रुद्र को पौन्ज pons (ज्ञानतन्तुओं का एक समूह)
" ८३—सूर्य को कार्पस स्ट्राइएटम (प्रेरक मुख्य ज्ञानतन्तु)
" ८६—अग्नि को थैलमस (अनुभव करने वाले मुख्य ज्ञानतन्तु समूह)
" १०५—अदिति को दिमाग का एक भाग (मध्यवर्त्ती प्रेरक)
" ११८—बृहस्पति को Speech center (वाणी का केन्द्र)

यह सब व्याख्या वेद मन्त्रों के आधार पर की है। कैसी उत्तम योजना है। वास्तव में जब तक वेदाङ्ग—उपाङ्ग—आयुर्वेद—धनुर्वेद—अर्थवेद—गान्धर्ववेद इत्यादि में प्रतिपादित शिल्पादिक्रिया, ज्योतिष, औषध, गानादि का पूर्णज्ञान नहीं होता, तब तक वेदार्थ बालकों का खेल नहीं है, जो पुस्तक उठाई भाष्य रच डाला। वास्तविक

वेदार्थ का प्रकाश तभी हो सकेगा, जब अङ्गों-उपाङ्गों तथा उपवेदादि का प्रौढ़ता से ज्ञान प्राप्त करने की योजना की जायेगी।

उपर्युक्त Vedic Gods नामक ग्रन्थ आङ्गलभाषा जानने वालों को अवश्य पढ़ना चाहिये। ऐसे ग्रन्थों का आर्य भाषा में भी अनुवाद होना चाहिये। कोई योग्य डाक्टर और वेदविषय को समझने वाले इस पर सम्भवतः अधिक प्रकाश डाल सकते हैं॥

स्वामी दयानन्द सरस्वती और ऐतिहासिक पक्ष

ऋषि दयानन्द ने वेद पर अपने अपूर्व ग्रन्थ ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में इस विषय में अपनी धारणा निम्न प्रकार लिखी है—

(क) एवमेव ब्रह्मवैवर्त्तादिषु मिथ्यापुराणसंज्ञासु किंच नवीनेषु मिथ्याभूता बह्वयः कथा लिखिताः, तासां···सविता सूर्य···स तस्य पितृवदिति रूपकालङ्कारोक्तिः। अस्यां परमोत्तमायां रूपकालङ्कारविधायिन्यां निरुक्त- ब्राह्मणेषु व्याख्यातायां कथायां सत्यामपि ब्रह्मवैवर्त्तादिषु भ्रान्त्या याः कथा अन्यथा निरूपितास्ता नैव कदाचित् केनापि सत्या मन्तव्याः। ऋ० भा० भू० पृ०२९८॥

"जो वह रूपकालङ्कार की कथा अच्छी प्रकार वेद ब्राह्मण और निरुक्त आदि सत्यग्रन्थों में प्रसिद्ध है। इसको ब्रह्मवैवर्त्त श्रीमद्-भागवतादि मिथ्या ग्रन्थों में भ्रान्ति से बिगाड़ के लिख दिया है तथा ऐसी ऐसी अन्य कथा भी लिखी हैं। उन सब को विद्वान् लोग मन से त्याग सत्य कथाओं को कभी न भूलें"। (पृ० २९९)

(ख) ईदृश्यः प्रमत्तगीतवत् प्रलपिताः कथाः पुराणाभासादिषु नवीनेषु ग्रन्थेषु मिथ्यैव सन्तीति भद्रैर्विद्वद्भिर्मन्तव्यम् । कुतः ? एतासामप्यलङ्कारवत्त्वात् ॥ (पृ० ३०६)॥

(ग) एवं परमोत्तमायां विद्याविज्ञापनार्थायां रूपकालङ्कारेणान्वितायां सत्यशास्त्रेषूक्तायां कथायां सत्यां, व्यर्थपुराणसंज्ञकेषु नवीनेषु तन्त्रादिषु ग्रन्थेषु च या मिथ्यैव कथा वर्णिताः सन्ति, विद्वद्भिर्नैव ताः कथाः कदाचिदपि सत्या मन्तव्या इति ।
(पृ० ३१३)॥

(घ) अतो नात्र मन्त्रभागे हीतिहासलेशोऽप्यस्तीत्यवगन्तव्यम् । अतो यच्च सायणाचार्यादिभिर्वेदप्रकाशादिषु यत्र कुत्रेतिहासवर्णनं कृतं तद् भ्रममूलमस्तीति मन्तव्यम् । (पृ० ८६) ॥

अतः यहाँ मन्त्रभाग में इतिहास का लेश भी नहीं है, ऐसा समझना चाहिये। इसलिये जो सायणाचार्यादिकों ने अपने भाष्यों में जहाँ कहीं इतिहास का वर्णन किया है वह भ्रम के कारण ही है, ऐसा जानना चाहिये। पाठक उपर्युक्त सारा प्रकरण ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में देखें ॥

ऋषि दयानन्द की घोषणा कैसे प्रबल शब्दों में है। हमारा उपर्युक्त सम्पूर्ण लेख वस्तुतः ऋषि की इस धारणा की पुष्टि के निमित्त ही लिखा गया है। एक भी शब्द प्रमाणरहित नहीं ॥

सायणाचार्य तथा ऐतिहासिक पक्ष

हमें बहुत यत्न करने पर भी सायणाचार्य के भाष्य में स्कन्द स्वामी की ऐतिहासिक प्रक्रिया का स्वरूप दृष्टिगत नहीं हुआ। हमें

अत्यन्त आश्चर्य होता है कि सायणाचार्य ने अपने से पूर्ववर्त्ती अनेक आचार्यों का उल्लेख तक नहीं किया। उन के समय में ये सब आचार्य सर्वथा अज्ञात अवस्था में हों, यह बात साधारण बुद्धि वाला भी नहीं मान सकता। उस ने केवल माधव का नाम ही लिखा है। सायणाचार्य का कर्त्तव्य था कि वह अपने पूर्व के भाष्यकारों के भाष्यों पर प्रकाश डालते और उनके भाष्यों से अपने भाष्य की विशेषताओं का प्रतिपादन करते, पर जानकर वा न जानकर ऐसा नहीं किया। यही कहना पड़ता है। हम कह सकते हैं यदि वह अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों की परम्परागत इन प्रक्रियाओं को लेकर भाष्य करते तो संसार में वेदार्थ के विषय में इतना अन्धकार न होता।

जिन लोगों को सायणाचार्य ही वेद के अपूर्व विद्वान् दृष्टिगोचर होते हैं, उनका भाष्य ही सुसङ्गत-सुसम्बद्ध और सोपपन्न जान पड़ता है, वह किञ्चित् चक्षु खोल कर इस विषय में देखें कि इनसे पूर्वाचार्यों ने वेदार्थ को कहाँ तक व्यक्त किया है॥

वेद की ऐतिहासिकप्रक्रिया सायणाचार्य की समझ में ही नहीं आई, यही विवशतः कहना पड़ता है। यदि समझ में आई होती तो वह अवश्य इसका व्याख्यान करते॥

यास्क के अनेकवाद

यह बात तो सभी विद्वान् स्वीकार करेंगे कि यास्क ने अपने निरुक्त में अनेकवादों का उल्लेख किया है। जो निम्न प्रकार है—

१. अध्यात्मम् लगभग १०–१२ स्थलों में॥
२. अधिदैवतम् ” ” ” ॥
३. आख्यानसमयः }
४. ऐतिहासिकाः } ” १९ स्थलों में॥
५. नैदानाः }

६. नैरुक्त पक्ष	२० स्थलों पर ॥
७. परिव्राजक मत	१ स्थल पर ॥
८. पूर्वे याज्ञिकाः	१ " " ॥
९. याज्ञिकाः	८ स्थलों पर ॥

ऐतिहासिक नैदान और आख्यानसमय इन तीनों पर (जो वास्तव में अतिस्वल्प भेद होते हुए एक ही पक्ष है) पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। परिव्राजक और अध्यात्म लगभग एक ही हैं। इनका तथा नैरुक्त पक्षों की व्याख्या उन्हीं वादों से हो जाती है। अर्थात् प्रवक्तृभेद से दर्शनभेद होता है। इस विषय की बहुत सामग्री अनेक आचार्यों के मत से दर्शा दी गई है। मन्त्रों के आध्यात्मिक आधिदैविक और आधियाज्ञिक भी अर्थ होते हैं। इस विषय की अनेक साक्षियाँ ऊपर दी गई हैं। इन सब वादों में वेदमन्त्रों के अर्थ होते हैं, यह सब वैदिकधर्मियों को स्वीकार करने में आपत्ति नहीं॥

निरुक्त के शेष ऐतिहासिक स्थल

ऐसे ऐतिहासिक स्थल जिनकी योजना इन पूर्वोक्त स्कन्द तथा दुर्ग आदि आचार्यों ने नहीं दर्शाई, उनको हम क्रमशः पृथक् निबन्ध द्वारा दिखाने की इच्छा रखते हैं। अवकाश तथा समुपयुक्त सामग्री प्राप्त होने पर (जिसमें बहुत सी प्राप्त हो चुकी है) हम सम्पूर्ण निरुक्त पर ही विचार उपस्थित करना चाहते हैं॥

"ईश्वराधीनं सर्वम्" प्रभु की कृपा से ही ऐसे महान् कार्य पूरे हो सकते हैं। अतः वह 'बलदा' परमात्मा बल प्रदान करे, जिससे ऋषियों के शुद्धस्वरूप का ज्ञान प्राप्त करते हुए प्रभु की पतित-पावनी वेदवाणी का सत्य स्वरूप संसार में विस्तृत हो। यही उस प्रभु से पुनः पुनः प्रार्थना है!!

उपसंहार

उपर्युक्त प्रकरण में हमने निम्न बातें स्पष्ट

निरुक्त में अनेक स्थलों पर यास्क ने ऐतिह
पर वह सब उपमार्थ ऋषियों की आख्यान सहि
है। ब्राह्मणों में विश्वामित्र-जमदग्नि-वसिष्ठादि
आदि के लिये स्पष्ट कहे गये हैं। निरुक्त के
आचार्य वररुचि ने—

औपचारिको मन्त्रेष्वाख्यानसमय इति नैरुक्तानां सिद्धान्तः।

मन्त्रों में आख्यान-इतिहास औपचारिक हैं, यह नैरुक्तों का सिद्धान्त है। ऐसी घोषणा स्पष्ट शब्दों में की है। इस स्पष्ट घोषणा के इन्हीं शब्दों को वर्तमान उपलब्ध वेदभाष्यकारों में सर्वतः प्रथम आचार्य स्कन्द स्वामी ने खुले शब्दों में घोषित किया और एक प्रकार से अपनी निरुक्तटीका में इसी घोषणारूपी धारणा का सर्वत्र अवलम्बन कर इतिहास की लुप्तप्रक्रिया को संसार में पुनः जीवित कर दिया, जिसके लिये हमें उसका अतिकृतज्ञ होना चाहिये॥

दुर्ग ने भी इसी औपचारिकप्रक्रिया का अनेक स्थलों में परिपालन किया। इन दोनों आचार्यों के अनेक प्रमाण दर्शाये गये। जिन से किसी को भी 'निरुक्तकार वेद में इतिहास मानता है' इस विषय का सन्देह नहीं रह जाता। हाँ, हठधर्मी दूसरी बात है॥

अन्तिम निवेदन

अन्त में हम एक बात और कह देना आवश्यक समझते है कि निरुक्त के सभी स्थल हमने पूर्णरीति से जान लिये हैं, यह बात नहीं है। हाँ, ऐतिहासिक पक्ष के विषय में हमें कुछ भी सन्देह नहीं। अन्य